वेदान्त विवेक

प्रणेता
परमहंस परिव्राजकाचार्य
श्रीमत् स्वामी निगमानन्द सरस्वती देव

(मूल बंगला में)
हिन्दी रूपान्तर
प्रभाकर महान्ति

प्रकाशक
दिल्ली सारस्वत संघ
नई दिल्ली

वेदान्त विवेक

VEDANTA VIVEK

प्रकाशक
दिल्ली सारस्वत संघ,
सी–४४, ग्रीन पार्क,
नई दिल्ली–११००१६
(नीलाचल सारस्वत संघ पुरी के लिए और उनकी ओर से प्रकाशित)

प्रकाशन वर्ष १९९८
YEAR OF PUBLICATION 1998

ISBN-81-85529-04-3

प्राप्ति स्थान :

१. दिल्ली सारस्वत संघ,
सी–४४, ग्रीन पार्क,
नई दिल्ली–११००१६

२. नीलाचल सारस्वत संघ, पुरी,
सत शिक्षा मन्दिर,
प्लाट नं० ए–४, यूनिट–६,
भुवनेश्वर–७५१००७

मूल्य : बीस रुपये

मुद्रक : आकाशदीप प्रिंटर्स, २० अन्सारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली–११०००२

हिन्दी संस्करण पर दो शब्द

सर्वश्रुति शिरोरत्नं विराजित पदाम्बुजम्
वेदान्ताम्बुज-सूर्याय तस्मै श्रीगुरवे नमः।

परिव्राजकाचार्य परमहंस श्रीमत् स्वामी निगमानन्द सरस्वती देव की स्वहस्त लिखित मूल बंगला पुस्तक "वेदान्त विवेक" का हिन्दी संस्करण सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। मूल पुस्तक की भूमिका में पुस्तक की विषय वस्तु के संबंध में सामान्य जानकारी दी गई है। इसलिए हम उसे दोहराना आवश्यक नहीं समझते।

परमहंस देव जी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकों जैसे "योगी गुरु", "ज्ञानी गुरु", "प्रेमिक गुरु", "तांत्रिक गुरु" और ब्रह्मचर्य साधना" का हिन्दी संस्करण काफी दिन पहले तैयार किया जा चुका है। उनमें भी भाषा की दृष्टि से सुधार की आवश्यकता है। उपयुक्त समय पर हम उनका शुद्ध हिन्दी संस्करण प्रकाशित करने की इच्छा रखते हैं। परमहंस देव जी के अदृश्य संकेत ने ही इस पुस्तक "वेदान्त विवेक" का हिन्दी संस्करण प्रकाशित करने की प्रेरणा हमें दी है। उनकी अहेतुकी कृपा के बिना हम इस कार्य को कतई सम्पन्न नहीं कर पाते। इसलिए पुस्तक की भूमिका का उपसंहार करने से पहले परमहंस देव जी की जीवनी का सामान्य परिचय देना हम उचित समझते हैं।

परमहंस निगमानन्द जी सरस्वती देव का जन्म अविभाजित बंगाल के नदिया जिला में सन् १८८० ईस्वी में कुतबपुर नामक एक छोटे से देहात में हुआ था। उनका बचपन का नाम नलिनीकान्त था। पिता भुवन मोहन और माता माणिक्य सुन्दरी देवी के वे ज्येष्ठ पुत्र थे। उन्होंने आठवीं कक्षा तक ही पढ़ाई की थी और उसके बाद उन्होंने व्यावसायिक शिक्षा के लिए ढाका के एक सर्वे स्कूल में प्रवेश लिया था। इतने में ही उनकी शिक्षा की इतिश्री हुई थी।

बालक नलिनीकान्त बचपन में घोर नास्तिक थे। उन्हें देवी–देवताओं, ईश्वर और परलोक पर कतई विश्वास नहीं था। वे सोचते थे कि मृत्यु के साथ ही प्राणी का सब कुछ समाप्त हो जाता है तथा परलोक और जमान्तरवाद कवि की कल्पना मात्र है। परन्तु घटना चक्र में उनकी यह धारणा बदल जाती है। जब वह मात्र २३ वर्ष के थे उस समय उनकी प्रियतमा पत्नी सुधांशुबाला थोड़े दिन अस्वस्थ रहने के बाद स्वर्ग सिधार जाती है। इसके बाद तीन विभिन्न अवसरों पर नलिनीकांत को उनकी दिवंगता पत्नी की छायामूर्ति से भेंट होती है और उससे वार्तालाप भी होता है। इससे नास्तिक स्वभाव वाले नलिनीकान्त परलोक के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए वाध्य होते हैं। तब वे प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि परलोक है, तो दिवंगता पत्नी से, एक बार ही सही, अवश्य भेंट करूंगा। इसी प्रतिज्ञा के साथ उनकी साधना का श्रीगणेश होता है।

नलिनीकान्त पश्चिम बंगाल के वीरभूम जिले के तारापीठ में उस पीठ के तत्कालीन भैरव साधु वामाक्षेया के मार्ग निर्देशन में महाशक्ति तारा की साधना करते हैं। यहां पर एक मास के भीतर ही वे तारा की साधना में उस शक्ति को अपनी दिवंगता पत्नी सुधांशुबाला के रूप में दर्शन करते हैं। नलिनीकान्त के अनुरोध पर महाशक्ति तारा उन्हें अपना वेदमयी विश्वरूप दिखाती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को विश्वरूप दर्शन कराने का उल्लेख है। परन्तु नलिनीकान्त ही एक मात्र साधक है जिन्हें महाशक्ति द्वारा विश्वरूप दर्शन कराये जाने का सौभाग्य प्राप्त होता है। इसके बाद नलिनीकान्त शंकर पंथी सन्यासी और अजमेर के पास स्थित पुष्कर तीर्थ के तत्कालीन महन्त स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती के आश्रम में ज्ञान की साधना करते हैं। बहुत ही कम समय में निगम अर्थात् वेद के निगूढ़ तत्व को सहज ही हृदयंगम कर लेने के कारण ज्ञानीगुरु उन्हें वैदिक सन्यास देकर उनका नाम **निगमानन्द** रखते हैं। इसके बाद स्वामी निगमानन्द योगीराज सुमेरुदास के सान्निध्य में योग में सिद्धि प्राप्त करते हैं। उसके बाद वे हिमालयवासिनी मां गौरी देवी की कृपा से प्रेम की साधना में सिद्धि प्राप्त कर पूर्णज्ञानी परमहंस

बनते हैं। उनकी जीवनी और साधनाओं का सामान्य परिचय **''सदगुरु निगमानन्द''** पुस्तक में दिया गया है।

मात्र तीन वर्ष की अल्पावधि में तंत्र, ज्ञान, योग और प्रेम की साधनाओं में सिद्धि प्राप्त करने के बाद परमहंस देव जब मानवता की सेवा के लिए लोकालय में आते हैं तो वे समाज की दयानीय अवस्था को देखकर दुखी हो जाते हैं। भारतीय समाज में सनातन धर्म के प्रचार, सत शिक्षा के विस्तार और शिव के ज्ञान से जीव की सेवा करने के उद्देश्य से वे समाज में आदर्शगृहस्थ जीवन के गठन, संघ शक्ति की प्रतिष्ठा और भगवतभाव के आदान–प्रदान की शाश्वत धारा का प्रचलन करते हैं। श्री जगन्नाथ धाम, पुरी में २४.८.१६३४ को उनके द्वारा स्थापित नीलाचल सारस्वत संघ उनकी इस धारा का धारक, वाहक और पोषक है। साधारण गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी मनुष्य किस प्रकार भगवत भाव में प्रतिष्ठित होकर अपने कल्याण और जन समाज की सेवा कर सकता है, नीलाचल सारस्वत संघ परमहंस देव जी के निर्देशानुसार भारतीय समाज के श्रद्धालु और जिज्ञासुजनों को वह शिक्षा देता है। दिल्ली सारस्वत संघ इस महान संघ की मानस सन्तान है जो भारत के उत्तर में कार्यरत होकर इस भावधारा के प्रचार और प्रसार में लगा हुआ है।

यह पुस्तक वेदान्त शास्त्र को परमहंस देव जी की अनमोल देन है। आत्मज्ञान या तत्त्व ज्ञान प्राप्त करने के लिए पुस्तक में वर्णित विवेक पंचक पर सम्यक चर्चा करने की आवश्यकता है। इन निबंधों में वेदान्त दर्शन के कुछ जटिल तत्त्वों की सम्यक विवेचना की गई है। केवल शुद्धचित्त और जिज्ञासु भक्तों के हृदय में ही इन तत्त्वों का सम्यक स्फुरण हो सकता है। केवल पुस्तक पढ़ने या दो चार श्लोक पढ़कर उनकी नुक्ताचीनी करने से ज्ञान नहीं होता। ज्ञान प्राप्ति के लिए श्रीगुरु के मार्ग निर्देशों के अनुसार नियमित साधना और भजन करने की आवश्यकता है। यदि किसी सुकृतिशाली साधक के प्राणों में ज्ञान प्राप्त करने की सच्ची प्यास जागृत होती है तो हमारा संघ उसकी यथासंभव सहायता करने के लिए सदैव तत्पर है।

अन्त में हम उन सभी महानुभावों के आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक

के प्रकाशन के लिए हमें हर तरह से प्रोत्साहित किया है। विशेषकर हम श्री प्रभाकर जी महान्ति के आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर जगज्जनहिताय निःशुल्क किया है। हिन्दी हमारी मातृभाषा न होते हुए भी हिन्दी भाषी जनता के आध्यात्मिक कल्याण को ध्यान में रखकर हमने इस पुस्तक का हिन्दी रूप प्रस्तुत किया है। सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे त्रुटियों के लिए हमें क्षमा करें और स्वधर्म पालन का व्रत लें। परमपूज्य परमहंसदेव सब को सन्मति प्रदान करें, यही निवेदन है।

अलमति विस्तरेण,

श्री श्रीठाकुर चरणाश्रित,

दुर्योधन प्रधान

नई दिल्ली
माघ पूर्णिमा,
११ फरवरी, १६६८

(दुर्योधन प्रधान)
अध्यक्ष
दिल्ली सारस्वत संघ

भूमिका

ॐ नमः श्रीगुरवे

श्रीगुरु के चरणरूपी कमल के सेवा के प्रभाव से शुद्धचित् और जिज्ञासु भक्तों के अन्तर में अनायास ही तत्त्वज्ञान का उद्रेक करने के निमित्त इस वेदान्त विवेक पुस्तक का प्रकाशन किया गया है।

साधारणतया असत्य में से सत्य को, अनित्य में से नित्य को, अनात्मा में से आत्मा को और द्वैत में से अद्वैत को छांट लेने की जो शक्ति है उसे विवेक कहते हैं। वेदान्त शास्त्र द्वारा प्रतिपादित विचार ही वेदान्त विवेक है। शास्त्रकारों ने इस वेदान्त विवेक का मोक्षद्वार के अन्यतम द्वारपाल के रूप में वर्णन किया है। जो व्यक्ति वस्तु का सच्चा तत्व अवगत होने के निमित्त यथार्थ रूप से प्रयत्नशील होता है और शुभ इच्छा को लेकर धीर भाव से अपने अन्तर में सदैव तत्संबंधी विचार में प्रवृत्त रहता है वही व्यक्ति शीघ्र ही अपनी अभिलाषित पदार्थ को प्राप्त कर के कृतार्थ होता है।

इस ग्रंथ में वेदान्त द्वारा प्रतिपादित नित्यानित्य विवेक, द्वैताद्वैत विवेक, पंचकोष विवेक, आत्मानात्म विवेक और महावाक्य विवेक, इस विवेक पंचक पर विचार किया गया है। पहले अनित्य वस्तु में से नित्यवस्तु का निर्धारण करके द्वैताद्वैत विवेक के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि वे अद्वैत हैं। वह नित्य अद्वैत पदार्थ पंचकोष के बाहर स्थित हिरण्मय कोष में स्व–महिमा में विराजमान है, यह बात पंचकोष विवेक में उल्लिखित हुई है। उसके बाद वही वस्तु आत्मा तथा उसके अतिरिक्त समस्त पदार्थ ही अनात्मा हैं, इसका वर्णन आत्मानात्म विवेक में किया गया है। इसके बाद महावाक्य विवेक में यह प्रमाणित किया गया है कि वह नित्य अद्वैत आत्मा ही "मैं" है। अतः आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान प्राप्त करना हो, तो इस विवेकपंचक पर अवश्य ही चर्चा करनी चाहिये। अतः साधारण लोगों की उपयोगिता के लिए यह वेदान्त विवेक पुस्तक

लिखी गई है। श्रद्धा के साथ दीर्घकाल तक वेदान्त विवेक का पुनः पुनः अभ्यास कर सकने से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है।

विवेक से जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, यदि वह दृढ़ हो जाता है, तो न चाहते हुए भी वह और कभी भी दूर नहीं हो पाता। उस ज्ञान के उत्पन्न होते ही सांसारिक अनित्य वस्तु विषयक सत्यभ्रम का विनाश होता है। अतः जो साधक तत्त्वज्ञान से मुक्ति प्राप्त करना चाहता है, उसे किसी शास्त्र को, किसी व्यक्ति अथवा संप्रदाय के मत को अभ्रांत समझ कर अंधविश्वासी नहीं बनना चाहिये। सदयुक्ति के साथ सभी बातों पर विस्तार से विचार करने से जो बात सत्य के रूप में बोध होगी, उसे ही यत्न के साथ ग्रहण करना चाहिये।

इस पुस्तक में सदयुक्ति के साथ सभी बातों को विचार प्रणाली में सम्मिलित किया गया है। इस पुस्तक की उपयोगिता पुस्तक में ही है। इस पुस्तक का मनयोग के साथ पठन–पाठन करने से अधिकांश लोग विशेष कर उच्चाधिकारी जनगण निश्चय ही लाभान्वित होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। सनातन धर्म के मुख पत्र आर्य दर्पण में इस ग्रंथ में उल्लिखित निबन्ध समूह का प्रकाशन किया गया था जिसके प्रति सुधीपाठकवृन्द ने विशेष आदर व्यक्त किया है। इससे प्रोत्साहित होकर हमने इन निबंधों को एकत्र सम्मिलित करके पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का साहस किया है।

पाद टिप्पण में इस ग्रंथ में उल्लिखित कतिपय कठिन शब्दों की परिभाषा दी गई है। हम आशा करते हैं कि यह पाठकों की बोधशक्ति में सहायक होगी। श्रीगुरुदेव द्वारा लिखित इस ग्रंथ में सम्मिलित निबंधों का पाठ करके यदि किसी एक व्यक्ति का चित्त अनित्य वस्तु से हटकर नित्यवस्तु का दिग्दर्शन प्राप्त करने में प्रयत्नशील होता है, तो हम अपना श्रम सार्थक हुआ समझेंगे। वांच्छा कल्पतरु गुरुदेव सब की मनोबांच्छा पूर्ण करें, यही कामना है। निवेदनमिति। जयगुरु।

सारस्वत मठ, प्रकाशक
वोधन षष्ठी, विनीत
२७ आश्विन, १३४१ बंगाब्द। स्वामी चिदानन्द

विषय सूची

वर्णानुक्रमिक विषय सूची

नित्यानित्य विवेक

वस्तु के बारे में विचार करना ही तत्संबंधी ज्ञान प्राप्त करने का प्रकृष्ट उपाय है

ज्ञानवादी श्रेष्ठ ऋषि वशिष्ठ देव ने ब्रह्म–विचार को मोक्षद्वार के अन्यतम द्वारपाल के रूप में वर्णन किया है। सही अर्थ में जो साधक सच्चा तत्त्व अवगत होने के निमित्त यथार्थ रूप से प्रयत्नशील होता है और शुभ इच्छा के अधीन होकर धीर भाव में अपने अन्तर में सदैव उस विषय पर विचार करता रहता है, वह अतिशीघ्र ही अपनी अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त करके कृतार्थ होता है। जिस साधक का चित्त चलते समय, स्थिर रहते समय, जाग्रत और स्वप्नावस्था में ब्रह्म–विचार परायण नहीं हो पाता, विद्वान जन उसे मृत कहते हैं। जिस व्यक्ति का मन यथार्थ रूप में चिंतनशील नहीं हो पाता, जो अपने मन में समस्त विषयों पर विस्तार पूर्वक विचार नहीं कर पाता, उसके दुर्बल हृदय में कोई भी गंभीर विषय चिरकाल तक स्थायी होकर नहीं ठहर पाता। जो अपने अन्तर में गंभीर तत्त्वों पर विचार नहीं कर पाता, उसके द्वारा अनेक पुस्तकों का पठन–पाठन करने पर भी वह सच्चा तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। अपने अन्तर में विशेष रूप से विचार न करके केवल शास्त्रीय उपदेश अथवा महान व्यक्तियों के मतानुसार जिस किस सत्य को अन्तर में स्थापित करने पर भी परीक्षा के समय सामान्य परिवर्तन में वह सत्य कभी भी अन्तर में सुप्रतिष्ठित नहीं रह पाता। अधिकांश क्षेत्र में लघु चित्त वाले व्यक्तियों को जो दिन प्रतिदिन नये नये मतवादों के वशीभूत होना दिखाई देता है, उसका एक मात्र कारण यह है कि वे अपने अन्तर में उस गंभीर तत्त्वज्ञान का सम्यक चिंतन करने में अक्षम हैं। परन्तु जो ब्रह्म–विचार परायण है, उसके अन्तःकरण में समुद्र के समान गांभीर्य, सुमेरु जैसी स्थिरता और चांद की तरह शीतलता दिखाई देती है। अतः प्रतिदिन श्रद्धा और यत्न के साथ विचार करना चाहिये। इस विचार धारा के

विषयजन्य सुख की तरह पहले से प्रीतिजनक नहीं होने पर भी उसका दृढ़तापूर्वक अभ्यास करना चाहिये।

तत्त्व ज्ञान प्राप्त करना सहज साध्य नहीं है। सच्चा पात्र नहीं होने से तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। आहार शुद्धि त्रिविध संघात शुद्धि* देश; काल और सतपात्र की प्राप्ति, संकल्प त्याग, इन्द्रिय संयम, ब्रह्मचर्य और गुरु सेवा के अनुशीलन के परिणामस्वरूप यह अधिकार मिलता है। इन्द्रियगण के चपलता वृत्ति का त्याग कर स्थिर भाव धारण नहीं करने से ज्ञान कभी भी प्रकट नहीं हो पाता। इन सब बातों का विवेचन कर के शास्त्रकारों ने उपदेश दिया है कि साधन–चतुष्टय संपन्न व्यक्ति ज्ञान प्राप्ति के लिये तत्त्व–विचार करेंगे। नित्यानित्य वस्तु विवेक, इहामुतार्थ फल भोग–विराग**, शम, दम आदि षट संपत्ति और मुमुक्षुत्व, इन चारों को साधन चतुष्टय कहते हैं। जो ये साधन चतुष्टय संपन्न है, वही तत्त्व–विचार करेगा। नित्यानित्य वस्तु पर विचार करना ही इस निबंध में हमारे लिये चर्चा की विषय वस्तु है।

"**नित्यं वस्त्वेंक ब्रह्म, तद्‌यतिरिक्तं सर्वमनित्यं-अयमेव नित्यानित्य वस्तु विवेकः।**" अर्थात एक मात्र ब्रह्म नित्यवस्तु है, उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ क्षणस्थायी और अनित्य है—ऐसे निश्चित ज्ञान को नित्यानित्य विवेक कहते हैं। मुमुक्षु साधक शांत चित्त में विचार के द्वारा नित्यानित्य की अवधारणा करेंगे।

---

* **त्रिविध संघात शुद्धि-संघात का अर्थ शरीर है। त्रिविध संघात का अर्थ यह है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ये तीन शरीर हैं। इन तीन शरीर की शुद्धि करने को त्रिविध संघात शुद्धि कहते हैं।**

** **इहमुतार्थफलभोगविराग-ऐहिक विषय सुख अथवा मृत्यु के बाद स्वर्ग का भोग-इन दोनों प्रकार के सुख का भोग करने की रत्ती भर आस्था अथवा इच्छा न होने का नाम इहामुतार्थ-फल भोग विराग है।**

भूतसमूह के गुणों पर विचार

ब्रह्म सत स्वरूप और अद्वितीय हैं—यह श्रुति–प्रतिपादित तत्त्व है। विचार के द्वारा अनित्य वस्तु के स्वरूप की अवधारणा करने से उस तत्त्व को सहज ही जाना जा सकता है। ब्रह्म नित्य और भूतसमूह अनित्य है। अतः पंचभूत के स्वरूप पर विचार करना होगा। 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध–ये कुछ बातें पंचभूत के गुण हैं। आकाश में शब्द, वायु में शब्द और स्पर्श, तेज में शब्द, स्पर्श और रूप, जल में शब्द स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध', ये पांचगुण विद्यमान हैं। श्रोत्र, त्वक, चक्षु, जिह्वा, और नासिका, ये पांच इन्द्रिय शरीर के कान आदि अवयवों में अधिष्ठित रहकर क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ग्रहण करते हैं। ये सब इन्द्रियाँ बहुत ही सूक्ष्म होने के कारण इन्हें नहीं देखा जा सकता। अतः कार्य के द्वारा इनका अनुमान लगाया जाता है। ये प्रायः बाहरी विषयों की ओर दौड़ते हैं। कर्मों की संख्या पांच है–कथन, ग्रहण, गमन, मल त्याग और प्रस्रवण। कृषि, वाणिज्य सेवा आदि इन पांच कर्मों के अन्तर्गत आते हैं। वाक, हस्त, पद, पायु और उपस्थ, इन पांच इन्द्रियों की सहायता से उक्त पांच प्रकार के कर्म किये जाते हैं। स्थूल शरीर के मुख आदि अंगों में पांच कर्मेन्द्रय रहते हैं। मन उक्त दस इन्द्रियों का अध्यक्ष है। मन का स्थान हृतपद्म मण्डल में है। उक्त दस इन्द्रियों की सहायता के बिना बाहरी वस्तुओं को ग्रहण करने की क्षमता मन में नहीं है। अतः इसे अन्तःकरण कहते हैं। इन्द्रिय समूह के विषय के संस्पर्श में आने पर अन्तःकरण के द्वारा विषय के गुण और दोष पर विचार किया जाता है। अन्तःकरण के तीन गुण होते हैं, सत्त्व, रजः और तमः। इन तीन गुणों की सहायता से अन्तःकरण का विकार भिन्न–भिन्न और अवस्थाएं विभिन्न होती हैं। सात्त्विक विकार अथवा सात्त्विक अवस्था से पुण्य संचित होता है, राजस अवस्था से पाप संचित होता है और तामस अवस्था से पाप अथवा पुण्य कुछ भी संचित न होकर व्यर्थ ही में आयु का क्षय होता है। उपर्युक्त अवस्थाओं में जिसके प्रति अहं, (मैं) ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है, वह कर्त्ता हैं।

जिन जिन पदार्थों को लेकर जगत का गठन हुआ है, उनमें से कर्मेन्द्रिय के अधिकार क्षेत्र में आने वाले पदार्थ सब से अधिक स्पष्ट होने पर भी उनकी मात्रा सब से कम है। पंच ज्ञानेन्द्रियों के अधिकार क्षेत्र में आने वाले पदार्थों की मात्रा उससे अधिक है। मानस द्वारा प्रत्यक्ष किये जाने वाले पदार्थों की मात्रा इससे भी अधिक है। अनुमान द्वारा जाना जाने वाले पदार्थों की संख्या अधिकतर अनुमान द्वारा जाना न जाने वाले पदार्थों के बारे में शास्त्रों की सहायता से जाना जाता है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म विभिन्न पदार्थों के समूह को जगत कहा जाता है। यही जगत ही ''इदं'' शब्द का अर्थ है।

सदवस्तु पर विचार और उसका परिचय

सृष्टि से पूर्व समूचा जगत एक मात्र अद्वितीय सतस्वरूप में स्थित था। उस समय उस सदवस्तु का नाम और रूप नहीं था। ''एकमेवाद्वितीयम–यह श्रुति वाक्य त्रिविध भेदशून्यता का परिचायक है। एकम अर्थात स्वगत भेद रहित, एवं अर्थात सजातीय भेद रहित और ''अद्वितीय'' अर्थात विजातीय भेद रहित अवस्था को समझाता है। यह स्वगत, सजातीय और विजातीय भेद रहित परम पदार्थ ही सदवस्तु है।

सदवस्तु में तीन तरह के भेद क्यों नहीं हैं? क्योंकि सदवस्तु के अवयव नहीं हैं और सदवस्तु के अंश का निरूपण नहीं हुआ है अर्थात सदवस्तु अखंड रूप में विराजमान है। नाम अथवा रूप भी सदवस्तु का अंश नहीं है। जिस समय नाम और रूप नहीं था, उस समय सदवस्तु ही विद्यमान थी। नाम और रूप की उत्पत्ति होने से सृष्टि का आरंभ हुआ। सृष्टि से पहले नाम और रूप की उत्पत्ति होना असंभव है। अर्थात आकाश की तरह सदवस्तु ही निरवयव (अवयव रहित) है। अतः वह स्वगत भेद रहित है। यदि कोई दूसरी सदवस्तु होती, तो वह सजातीय होती। ऐसा न होने के कारण सदवस्तु का वैलक्षण्य नहीं है। कल्पना के द्वारा उत्पन्न नाम, रूप, स्वरूप आदि आश्रय अथवा उपाधि की विभिन्नता के अतिरिक्त सदवस्तु का भेद नहीं होता। जिस प्रकार जलाशयों के

भिन्न होने से सूर्य के अनेक प्रतिविम्ब होने पर भी सूर्य एक रूप में अवस्थान करता है, ठीक वैसे ही कल्पना के द्वारा घट, पात्र आदि सदवस्तु के आधार भिन्न–भिन्न होने से सदवस्तु के उपाधिजन्य भेद होने पर भी सही अर्थ में कोई भेद नहीं होता। अतः सदवस्तु सजातीय भेद से रहित है। जो सदवस्तु का विजातीय है अर्थात विपरीत भाव से आक्रांत है, उसे असत कहते हैं। जो अस्ति अथवा अवस्थित–इस तरह के व्यवहार के अयोग्य है, वह कभी भी प्रतियोगी नहीं बन पाता। अतः सदवस्तु का विजातीय भेद एकदम असंभव है। अतः यह बात सिद्ध हुई कि सदवस्तु ''एकमेवाद्वितीयम''।

सदवस्तु की शक्ति रूपी माया के स्वरूप पर विचार

जिस सदवस्तु के बारे में चर्चा की गई, उसकी शक्ति को माया कहते हैं। माया की कोई पृथक सत्ता नहीं है। जिस प्रकार दाहिका (जलना) शक्ति को देखकर अग्नि का अनुमान लगाया जाता है, ठीक वैसे ही सृष्टि–कार्य को देखकर माया शक्ति का अनुमान लगाना होता है। फलवती होने से पहले कोई कभी शक्ति का अनुभव नहीं कर पाता। परमा शक्ति माया को परंब्रह्म का स्वरूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वयं अपनी शक्ति, यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। जिस प्रकार अग्नि की दाहिका शक्ति को अग्नि का स्वरूप नहीं कहा जा सकता। फिर यदि शक्ति को सदवस्तु के अतिरिक्त किसी वस्तु के रूप में स्वीकार करना होगा, तब उसका यथार्थ स्वरूप क्या है, उस पर विचार करना होता है। शून्य माया का स्वरूप है, ऐसा नहीं कहा जाता। क्योंकि शून्य अर्थात आकाश को माया के कार्य के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः माया को सत के अतिरिक्त और शून्य से भिन्न, इस अनिर्वचनीय स्वरूप में स्वीकार करना होता है।

इस जगत की सृष्टि से पहले असत अथवा पृथक सत्ता वाला कोई पदार्थ नहीं था। परन्तु उस समय तमः शब्द के नाम से परमात्मशक्ति का स्वरूप माया के रूप में विराजमान था। माया की सत्ता भी पृथक नहीं हैं,

क्योंकि वेद में दूसरी वस्तु की सत्ता प्रमाणित हुई है। सदवस्तु परंब्रह्म की सत्ता में ही उसकी सत्ता है। अतः शून्य की तरह माया का भी द्वितीयत्व नहीं है। पुनः विचार करने से पता चलेगा कि वस्तु और उसकी शक्ति, इन दोनों के पृथक जीवन की गणना लोक-प्रचलित नहीं है। यह माया शक्ति संपूर्ण ब्रह्म में व्याप्त नहीं हैं, परन्तु एक भाग में ही व्याप्त है अर्थात शक्ति ब्रह्म का एक अंश मात्र है। जिस प्रकार घट और सराव आदि की प्रजनन शक्ति पृथ्वी के सभी अवयकों में नहीं है, केवल गीली मृदा में वह शक्ति स्थित है, उसी प्रकार परमात्मा का एक अंश सभी भूतों में व्याप्त और तीन पाद नित्य-शुद्ध-मुक्त स्वरूप का प्रकाश है। जिस प्रकार रंग, कागज अथवा कपड़े का आश्रय लेकर उसमें भिन्न-भिन्न चित्र बनाता है, उसी प्रकार माया, सदवस्तु ब्रह्म का आश्रय लेकर उसमें भिन्न-भिन्न विकारों अर्थात कार्यों की परंपरा का सृजन करती है।

सदवस्तु का अवलंबन लेकर माया का सृष्टि क्रम

माया शक्ति परंब्रह्म में जिन सब विकारों का सृजन करती है, उनमें से पहला विकार आकाश है। आकाश के स्वरूप का अवकाश स्थान और आकाश के अस्तित्व व्यवहार से पता चलता है। सदवस्तु परंब्रह्म का संबंध भी उसमें है। सदवस्तु एक मात्र स्व-भाव अर्थात सत्ता मात्र ही उसका स्वरूप है। आकाश के दो रूप हैं। ब्रह्म में अवकाश स्वरूप नहीं है। परन्तु आकाश में अवकाश और सत्ता, ये दो रूप विद्यमान हैं। जिस माया शक्ति ने आकाश की कल्पना की है, उसी ने ही सदवस्तु और आकाश की अभिन्नता की कल्पना करके उन दोनों के बीच धर्म और धर्मी भाव के विपरीत क्रम का सृजन किया है। जो जिसके निम्नदेश में रहता है, वह उसका धर्म नहीं हो सकता। परन्तु धर्मी उसका आश्रय हो सकता है। ब्रह्मस्वरूप सदवस्तु उसके ऊपरि भाग में रहने के कारण उसे धर्मी कहा जाता है और आकाश उसका धर्म है। जिस प्रकार जाति और व्यक्ति, जीव और शरीर, गुण और पदार्थ, ये सब एक दूसरे से भिन्न हैं, ठीक वैसे ही आकाश और सदवस्तु एक दूसरे से भिन्न है। युक्ति

विचार के द्वारा सत और आकाश का भेद दृढ़ता रूप से अवगत होने से आकाश के प्रति सत्यत्व का ज्ञान और सदवस्तु के प्रति आकाश का धर्म होने का ज्ञान कभी भी उत्पन्न नहीं होगा। इसी कारण ज्ञानी व्यक्तियों के पास आकाश सदैव असत्य के रूप में ज्ञान होता है और सदवस्तु उनके पास सदैव आकाश धर्म से रहित होकर प्रकट होती है।

सदवस्तु से सृष्ट पदार्थों की विभिन्नता और असत्यता

उपर्युक्त रूप में शास्त्र की युक्ति के द्वारा आकाश का असत्यत्व और सदवस्तु का सत्यत्व साधित हुआ। इस प्रकार शास्त्र की युक्ति के अनुसार वायु आदि में से सदवस्तु को पृथक रूप में निश्चित करना होगा। यदि कहो कि वायु आदि आकाश का कार्य है, सदवस्तु वायु आदि का कारण नहीं है; अतः सदवस्तु के साथ वायु की अभेद प्रतीति करना असंभव है। तब इसका उत्तर यह है कि माया सदवस्तु के एक भाग में स्थित है। आकाश माया का एक अंश अथवा एक भाग में विद्यमान है। वायु आकाश के एक अंश में स्थित है। इस प्रकार वायु की भी सदवस्तु में कल्पना की गई है। अर्थात सदवस्तु वायु का साक्षात कारण नहीं होने पर भी परंपरा के कारण के रूप में विद्यमान है। इस कारण से अभेद प्रतीति हो सकती है। शोषण, स्पर्श, गति और वेग, वायु के ये कुछ स्वाभाविक धर्म हैं। फिंर सदवस्तु माया एवं आकाश, ये तीन गुण भी वायु में विद्यमान हैं। वायु में अस्तित्व के रूप में जो सत्ता है, वह सदवस्तु का गुण है। सत से वायु को पृथक करने से उसका जो असत्यता रूप रहेगा, वह माया का गुण है और वायु में जो शब्दगुण उपलब्ध है, वह आकाश का गुण है। वायु में सतस्वरूप परंब्रह्म का जो सद अंश है, उसको पृथक कर देने से जो शेष रहता है, वह असत स्वरूप मायिक अंश हैं। अतः वह असत्य है। जिस प्रकार पहले बताई गई युक्ति के विचार से आकाश को असत्य निश्चित किया गया है, ठीक वैसे ही युक्ति के द्वारा वायु की असत्यता का निर्णय करके उसमें सत्यत्व का ज्ञान त्याग करना होगा।

वायु की तुलना में थोड़े कम स्थान में व्याप्त अग्नि का असत्यत्व भी युक्ति के द्वारा निश्चित करना होगा। ब्रह्माण्ड में एक के ऊपर दूसरे आवरण के रूप में वर्तमान पंचभूतों की न्यूनता और अधिकता का विचार है, अर्थात वायु के दस भागों में एक अंश के बराबर अग्नि की कल्पना वायु में की गई है। इस प्रकार सभी भूतों के दसवें भाग के रूप में न्यूनाधिकता का वर्णन शास्त्र में किया गया है। अग्नि प्रकाश स्वभाव संपन्न है। जिस प्रकार वायु में जिनके अनुवृत्ति संबंध के बारे में पहले ही वर्णन किया गया है, ठीक वैसे ही उन उन पदार्थों की अनुवृत्ति अग्नि में भी है। अग्नि अस्तित्व युक्त है, यह सदवस्तु की अनुवृत्ति है। अग्नि असत्य है अर्थात सदवस्तु की सत्ता के अतिरिक्त अन्य सत्ता अग्नि में नहीं है, यह माया की अनुवृत्ति है। अग्नि शब्द युक्त हैं, यह आकाश की अनुवृत्ति है और वह अपना साक्षात–कारण वायु से स्पर्श गुण प्राप्त हुआ है। यह सदवस्तु, माया, आकाश और वायु के अंशसंयुक्त, अग्नि का अपना गुण "रूप" मात्र है। उनमें से सदवस्तु के अतिरिक्त अर्थात अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य सभी धर्म असत्य है–इस प्रकार विचार करके स्थिर सिद्धांत पर पहुंचना होगा।

अग्नि के सदवस्तु से पृथक के रूप में निश्चित होने और अग्नि का असत्यत्व अन्तर में दृढ़ होने से **जल** जो अग्नि से दसवें भाग से न्यून है, अग्नि में उसकी कल्पना की गई है, इस बात का चिंतन करना होगा। सदवृत्ति से अग्नि तक अनुवृत्ति संबंध होने के कारण जल का अस्तित्व, असत्यत्व, शब्द, स्पर्श और रूप विद्यमान है। उसका अपना गुण केवल "रस" है। उनमें से सदवस्तु के गुण अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य सभी धर्म ही असत्य है–इस प्रकार निश्चित करना होगा।

जब यह धारणा बनेगी कि जल सदवस्तु से भिन्न है और जल का असत्यत्व अन्तर में दृढ़ होने पर यह चिंतन करना होगा कि जल से दसवें भाग से **पृथ्वी** की कल्पना जल में की गई है। सदवस्तु से जल पदार्थों के संबंध में पृथ्वी का अस्तित्व, शब्द, स्पर्श, रूप, रस हैं, परन्तु

गंध ही उसका अपना गुण है। उनमें सदवस्तु के गुण सत्ता के अतिरिक्त अन्य सभी धर्म ही मिथ्या है। अतः सत्ता अथवा सदवस्तु पृथ्वी से भिन्न है, इसे विचार के द्वारा निश्चित करना है। सत्ता पृथक के रूप में निश्चित होने से भूमि मिथ्या है, यह बात निश्चित होती है। पहले बताया गया असत्य भूमि से दसवां भाग कम है और उसके भीतर ब्रह्माण्ड की कल्पना भूमि में की गई है। उस ब्रह्माण्ड के भीतर भू आदि चौदह भुवन और उन चौदह भुवनों में यथोचित प्राणी शरीर स्थित है। ब्रह्माण्ड चौदह भुवनों और प्राणी देह से सदवस्तु को पृथक करने से असत्य के रूप में प्रमाणित वह ब्रह्ममाण्ड आदि ज्ञात होने पर भी उससे कोई हानि नहीं होगी।

ब्रह्म के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु की अनित्यता का निरूपण

तीन लोगों में हर जगह देखने को मिलता है कि मृदा आदि कार्य की उपादान वस्तुएं उस कार्य की अपेक्षा नित्य अर्थात अधिक समय तक स्थायी है। परंतु घट आदि कार्य–द्रव्यसमूह मृदा आदि कारण की तुलना में अनित्य है–क्योंकि लोग घट आदि कार्य द्रव्य को विनाश होते देखते हैं। अतः ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण यह समूचा विश्व अनित्य और जगत का कारण वह परंब्रह्म परमार्थतः सत्य है। "तस्माद" और एतस्माद आदि श्रुतिवाक्यों में इस बात का स्पष्ट निर्देश है कि ब्रह्म से प्रपंच जगत उत्पन्न हुआ है। अतः जगत के अनित्यत्व के संबंध में सन्देह नहीं हो सकता। अवयवों से युक्त होने के कारण समूचे प्रपंच का इस प्रकार अनित्यत्व प्रमाणित होने से वैकुण्ठ आदि लोक समूह के प्रति जो नित्यत्व बोध रहता है, वह मूढ़ बुद्धि वाले लोगों की भ्रांति मात्र है।

जगत की व्यावहारिक सत्ता

अतः भूतों और भौतिक पदार्थ समूह एवं माया तथा उसकी असत्ता विशेष रूप से हृदयंगम होने से सदवस्तु के संबंध में अद्वैत ज्ञान में कभी भी व्यतिक्रम होने की संभावना नहीं रहती। जिन तत्वज्ञानी महात्माओं ने पृथ्वी आदि की असत्ता और अद्वितीय सदवस्तु का निश्चय किया है,

उनका व्यवहार नहीं मिट सकता। क्योंकि पृथ्वी असत्य होने पर भी उसका स्वरूप नष्ट नहीं होता। अर्थात एक पुरुष के अज्ञान की निवृत्ति होने पर भी अन्य जगत की तो निवृत्ति नहीं होती। अतः व्यवहार का किस प्रकार विलोप होगा? अतः सांख्य वैशेषिक आदि अन्यान्य वादियों ने अनेक युक्तियों की सहायता से द्वैतभाव में जगत की सत्ता को जिस रूप में प्रमाणित किया है, व्यावहारिक क्षेत्र में वह युक्ति ही अनुकरणीय है। उसका खंडन करने का प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। जो भी हो, द्वैत संबंधी अवज्ञा दृढ़तर होने से अद्वैत ज्ञान धीरे–धीरे विशेष रूप से स्थिरीकृत होता है।

अद्वैत ज्ञान और जीवन्मुक्ति

जिन साधकों का अद्वैत ज्ञान अधिक स्थिर हो चुका है, उन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं। श्रीमद भगवत गीता में इस अवस्था को ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। यह अवस्था प्राप्त होने पर संसार में और मुग्ध नहीं होना पड़ता। जो पुरुष ऐसी निष्ठा के साथ चलते हैं, वे ही देहावसान के बाद निर्वाणमुक्ति प्राप्त करके धन्य होते हैं। जीवन्मुक्त पुरुष के नीरोग अवस्था में रहने अथवा रुग्ण अवस्था में भूतल पर मूर्छित हो कर प्राण त्याग करने पर भी उनमें कभी भी भ्रांति उत्पन्न नहीं होती। जिस प्रकार प्रतिदिन के स्वप्न अथवा सुषुप्ति के समय अधीत–विद्या विस्मृत होने पर भी जाग्रत समय में वह और विस्मृत नहीं होती, ठीक वैसे ही प्राणों के निकलते समय तत्त्वज्ञानी साधकों की अद्वैत ज्ञान की विस्मृति नहीं होती। वेदान्त द्वारा सिद्ध अद्वैत ज्ञान मृत्यु के समय भी परिवर्तित (विपर्यस्त) नहीं होता। अतः यह बात सिद्ध हुई कि नित्यानित्य विवेक बह्मानन्द की प्राप्ति का कारण है।

इस प्रकार नित्यत्व और अनित्यत्व के संबंध में वेद और उसके अनुकूल तर्क की सहायता से जो विचार है, उसे ही नित्यानित्य विवेक कहते हैं। एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है। अतः ऐहिक और पारलौकिक सभी भोग्य वस्तुओं में अनित्यत्व का निर्णय होने से उनके प्रति जो निस्पृहता

अथवा तुच्छबुद्धि का उद्रेक होता है, उसे वैराग्य कहते हैं। नित्य और अनित्य वस्तु का स्वरूप क्या है, तत्संबंधी यथार्थ ज्ञान का उदय होने से पुरुष में फूल की माला, चन्दन और नारी आदि सभी अनित्य वस्तुओं के प्रति वैराग्य का उदय होता है। पुनः साधुओं ने यह निर्देश दिया है कि नित्य और अनित्य वस्तु के विचार से उत्पन्न तीव्र वैराग्य ही मुक्ति का कारण है। इस लिये विवेक संपन्न और मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को नित्यानित्य विचार के द्वारा यत्न के साथ पहले उस वैराग्य का अनुशीलन करना चाहिये। वैराग्य ही बन्धन को तोड़ने का श्रेष्ठ उपाय है। एक मात्र नित्यानित्य विवेक से ब्रह्म के प्रति अनुराग और ब्रह्म से भिन्न सभी पदार्थों के प्रति विराग उत्पन्न होता है, क्योंकि नित्यानित्य विवेक से पता चलता है कि ब्रह्म ही एक मात्र अविनाशी और अन्य सभी बातें विनाशशील हैं।

ब्रह्मैव नित्यमन्यत्तुह्य नित्यमिति वेदनम्

द्वैताद्वैत विवेक

जीव अनादि माया से पूर्णरूपेण आछन्न है। उस मायाछन्न जीव के तत्व ज्ञान से प्रबुद्ध होने से अथवा जाग्रत होने से उसे अज (जन्म रहित), अनिद्र और अस्वप्न अद्वैत ब्रह्म की उपलब्धि होती है। जब तक प्रपंच की निवृत्ति नहीं होती, तब तक अन्तर से संशयों का निरसन नहीं हो पाता। संशयों की निवृत्ति नहीं होने से द्वैत और अद्वैत में से कौन सत्य है, उसका निर्णय नहीं हो पाता। यह द्वैत प्रपंच केवल माया है और मात्र परमात्मा ही अद्वैत हैं। जब तक माया विद्यमान रहती है, तब तक प्रपंच सत्य के रूप में बोधगम्य होता है। माया के दूर होते ही प्रपंच के प्रति असत्य–ज्ञान उत्पन्न होकर उद्वैत–ज्ञान उपस्थित होता है।

द्वैत से अद्वैत तक पहुंचने की धारा

ससारी व्यक्ति के साधन संपन्न और विवेक से युक्त नहीं होने से वह अद्वैत–ज्ञान की चर्चा करने का पात्र नहीं बन पाता। क्योंकि परात्पर परमात्मा विवेक रहित व्यक्तियों के पास द्वैत के रूप में ही ज्ञेय होते हैं। जिस ज्ञान के द्वारा मैं स्वतंत्र, जगत स्वतंत्र, ब्रह्म स्वतंत्र, जीव स्वतंत्र की प्रतीति होती है, वह द्वैत ज्ञान सहज ही दूर नहीं हो पाता। जन्म जन्मान्तर का द्वैतज्ञान हमारे भीतर अभ्यास में बदल चुका है। अतः कठोर साधना और विवेक के अतिरिक्त उसमें परिवर्तन करने का कोई अन्य उपाय नहीं। साधना के द्वारा द्वैत भाव में परिवर्तन कर के अद्वैत ज्ञान में पहुंचना होता है। द्वैत ज्ञान को अद्वैत ज्ञान में बदलने के लिये विभिन्न ज्ञान को विभिन्न रूप में अवगत होकर अंत में एकत्व में पहुंचने के लिए वेदान्त ने सर्वप्रथम सृष्टि और स्रष्टा अर्थात जगत और ब्रह्म, इस द्वैत भाव की स्थापना करके उल्लेख किया है कि ब्रह्म ही जगत के रूप में प्रतीत होते हैं अर्थात जगत ब्रह्म से कोई पृथक पदार्थ नहीं है अथवा जगत का कोई पृथक अस्तित्व नहीं। ब्रह्म की माया शक्ति से जीव जगत की उत्पत्ति हुई है। ब्रह्म और माया शक्ति का पृथक–पृथक रूप में वर्णन होकर पहले द्वैतवाद की स्थापना हुई है सही, परंतु अंत में शक्ति और शक्तिमान का एकत्र सम्मेलन कर के अद्वैतवाद का निरूपण किया गया है। अतः एकाग्र चित्त से ब्रह्म और जीव जगत पर विचार कर

के अद्वैत ज्ञान प्राप्त करना होगा। फिलहाल ब्रह्म और जगत के संबंध में विचार करें।

ब्रह्म से जीव जगत की उत्पत्ति का कारण

सृष्टि से पहले इस जगत का अस्तित्व नहीं था। उस समय केवल एक एवं अद्वितीय सत विराजमान थे। उस सत अर्थात् ब्रह्म ने सोचा कि मैं प्रजा के रूप में अनेक बनूंगा। इसके बाद वह जीवजगत के रूप में अनेक बने। उस परंब्रह्म से प्राण, मन, वाक, पाणि (हाथ) आदि कर्मेन्द्रिय, चक्षु, कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रिय और आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा विश्वधात्री उत्पन्न हुए। इस प्रकार विभिन्न शास्त्रों में बताया गया है कि परमात्मा से इस विश्व ब्रह्मांड का सृजन हुआ है। अतः यह बात नहीं कही जा सकती है कि विश्व का सृजन बिल्कुल नहीं हुआ। अतः इस विश्व को सृष्टि और परमात्मा को सृष्टा के रूप में स्वीकार करना होगा। इस प्रकार द्वैतवाद की स्थापना करनी हुई। इस अधिष्ठापित द्वैतज्ञान को अद्वैत तत्व में बदलना हो, तो विचार और अभ्यास के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से यह निश्चित नहीं हो पायेगा। शास्त्रों की चर्चा से द्वैतवाद का खंडन किये जाने पर भी अंत में वह असिद्ध हो जाता है। **कभी भी शास्त्रों की चर्चा से वास्तविक भ्रम दूर नहीं हो पाता।** क्योंकि अद्वैत ज्ञान के उत्पन्न होने पर भी संसार के प्रति लोभ विद्यमान रहता है। विचार और अभ्यास के अतिरिक्त उसे दूर नहीं किया जा सकता। विचार और अभ्यास परिपक्व होने से ब्रह्म जगत अंतर्जगत में विलीन होकर अद्वैत ज्ञान का उदय स्वतः होता है। उस समय वह परमात्मा ही जगत के रूप में दिखाई देते हैं। विज्ञान रूपी महामाया की अपनी आवरणी और विक्षेप शक्ति* के द्वारा आवृत होकर ब्रह्म ही जगत के रूप में दिखाई देते हैं। फिलहाल विचार करेंगे कि इस जगत का सही अर्थ में अस्तित्व है कि नहीं।

***आवरणी और विक्षेप शक्ति : माया की शक्ति दो तरह की है। जिस शक्ति के द्वारा वस्तु का स्वरूप दूर हो जाता है, उसे आवरणी शक्ति कहते हैं और जिस शक्ति के द्वारा एक वस्तु में दूसरी वस्तु की प्रतीति होती है, उसका नाम विक्षेप शक्ति है। ''रस्सी में सर्प का भ्रम'' के स्थान पर आवरण शक्ति वस्तु का स्वरूप दूर कर देती है और विक्षेप शक्ति रस्सी में सर्प का भ्रम उत्पन्न कराती है।**

जगत की उत्पत्ति के संबंध में सर्वसाधारण का मतामत

यदि सही अर्थ में जगत का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, तो विवेचना करनी होगी कि एकमात्र चित् स्वरूप ब्रह्म से यह चराचर जगत उत्पन्न हुआ है। और यदि जगत का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता, तो प्रमाणित होता है कि एकमात्र चिन्मय ब्रह्म ही विद्यमान है और उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सृष्टि पर विचार करने वाले विद्वानों का कहना है कि विश्व का यह सृजन केवल उन परमात्मा के माहात्म्य का विस्तार मात्र है। उनमें से कोई कोई कहते हैं कि यह स्वप्न की तरह माया जैसी है। सृष्टिवादी विद्वानों में से कोई कोई कहते हैं कि यह सृष्टि प्रभु की इच्छा मात्र है। ज्योतिर्विद विद्वानों का कहना है कि यह काल क्रम से स्वतः सृष्ट होता है। कोई दूसरा कहता है कि परमात्मा ने अपने भोग–विलास के निमित्त इस जगत का सृजन किया है। कुछ लोगों का विचार है कि परमात्मा ने अपनी क्रीडा के निमित्त जगत का निर्माण किया है। दूसरे लोग कहते हैं कि उत्पादन करना ही परमात्मा का स्वभाव है। वे पूर्णकामी हैं, उनकी कोई इच्छा नहीं। अतः उन्होंने किसी इच्छावश सृष्टि नहीं की है। उन्होंने केवल अपने स्वभाववश इस सृष्टि का सृजन किया है। इस प्रकार विभिन्न रूपों में जगत की उत्पति के बारे में विचार व्यक्त किये गये हैं। फिलहाल विचार करें कि उपनिषद और वेदांत शास्त्र में जगत के संबंध में क्या विचार हैं।

उपनिषद् में वर्णित जगत की उत्पत्ति का विवरण

फिलहाल ईश्वर द्वारा सृष्ट और जीव द्वारा कल्पित जगत का विभाजन दिखाया जाता है। क्योंकि उस विभाजन के अनुसार जीव का परित्यक्त द्वैतभाव स्पष्ट रुप से प्रकाशित होगा। श्वेताश्वेतर उपनिषद में इस बात का वर्णन है – मायाशक्ति को प्रकृति के रूप में समझना होगा और उस मायारूपी उपाधियुक्त चैतन्य का नाम ईश्वर है। उन माया–उपाधि वाले ईश्वर ने इस समूचे जगत का सृजन किया है। अन्यान्य उपनिषदों में इस प्रकार का वर्णन है कि आत्मा से अभिन्न उन ब्रह्म से आकाश,

वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, औषधि, अन्न और स्थूल शरीर आदि समग्र पदार्थों का यथाक्रम उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार आग से चिनगारियां निकलती हैं, ठीक वैसे ही अक्षर ब्रह्म से तरह तरह के चेतनशील जीव और विविध जड़पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। उन्होंने जीव–चैतन्य के रूप में समस्त प्राणियों के शरीर में प्रवेश किया हुआ है। प्राण धारण करने के कारण उन्हें जीव की संज्ञा दी गई है। सर्वाधिष्ठान–भूत सर्वव्यापी ब्रह्म–चैतन्य और पहले बताये गये इन्द्रिय–प्राण–मन–बुद्धि की समष्टि रूपी लिंग शरीर और लिंग शरीर में स्थित चैतन्य–प्रतिबिम्ब, इन सब की समष्टि का नाम जीव है। ईश्वरीय माया शक्ति रूपी उपाधि में जिस प्रकार जगत का सृजन करने की सामर्थ्य है, उसी प्रकार उसमें मोहन शक्ति भी है। उस शक्ति से मुग्ध होकर जीव सांसारिक सुख–दुःख का भोग करता है और मोह से ईश्वरत्व विस्मृत होकर संसार की माया से मुग्ध होकर शोक से अभिभूत होता है।

ईश्वर द्वारा सृष्ट द्वैतप्रपंच और जीव द्वारा सृष्ट द्वैत प्रपंच पर विचार

शस्य आदि अन्न समूह शस्य के रूप में ईश्वर की सृष्टि होने पर भी जीव ने अपने ज्ञान और कर्म से उन पर अपने–भोगत्व–की स्थापना कर रखी है। शस्य से अन्न के रूप में जो चीजें पैदा होती हैं, वह सब जीव ने बनाई हैं। जिस प्रकार नारी पिता के द्वारा जन्म दी जाती, पति उसका भोग करता है, ठीक वैसे ही ईश्वर ने जगत का सृजन किया है, पर जीव उसका भोग करता है–इस प्रकार दो तरह से अन्वय हुआ है। पुनः मायावृत्ति रूप जगत की सृष्टि के संबंध में ईश्वर का जो संकल्प है, वही सृष्टि का कारण है और मनोवृत्ति के रूप में जीव का भोग विषयक जो संकल्प है, वही भोग का साधन है। ईश्वर द्वारा सृष्ट जागतिक वस्तुएं जीव द्वारा दोबारा नहीं बनाई जा सकतीं। तथापि ईश्वर द्वारा सृष्ट मणि आदि वस्तुओं का रूपांतर नहीं होने पर भी भोक्ता की तरह तरह की बुद्धि की सहायता से तरह तरह से उन सब वस्तुओं का भोग किया जाता

है। कोई या तो मणि प्राप्त होकर खुश होता है, तो कोई मणि प्राप्त न कर सकने के कारण खिन्न होता है। परंतु वैराग्यवान साधक केवल उस मणि का दर्शन मात्र करते हैं। उस दर्शन से उनमें न हर्ष न खेद आदि कोई भी भाव उत्पन्न नहीं होता। अतः मणि की प्रिय, अप्रिय और उपेक्षा ये तीन अवस्थाएं जीव द्वारा सृष्ट और प्रिय, अप्रिय और उपेक्षा ये तीन भाव साधारण मणि के रूप में ईश्वर द्वारा सृष्ट हैं।

बाह्य वस्तुओं के मनोमय स्वरूप का प्रमाण

एक ही नारी अपने संबंधी नर और नारियों के व्यवहार में पत्नी, पुत्री, पुत्रवधू, ननद और माता आदि विभिन्न संज्ञा प्राप्त होती है। परंतु उसकी नारी मूर्ति के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। यदि कहो कि पत्नी, पुत्रवधू आदि संबंध ज्ञान भिन्न भिन्न होने पर भी नारी के आकार में तो कोई भेद नहीं है, नारी की मूर्ति में जीव की सृष्टि में जरा सी भी विलक्षणता नहीं दिखाई देती। अतः यह बात किस प्रकार युक्तिसंगत होती है कि "जीव द्वारा सृष्टि भोग्य है?" उसकी मीमांसा यह हुई कि बाह्य वस्तुएं दो तरह की हैं—बाहरी क्षेत्र में पंचभूतमय और अंतःकरण में मनोमय। उसमें बाहरी तौर पर दिखाई देने वाली रक्त मांसमय नारी में भेद न होने पर भी अंतःकरण की वृत्ति में स्थित वह मनोमयी नारी पत्नी, वधू आदि विभित्र रूपों में कल्पित होती है। यदि पुनः कहो कि भ्रांति, स्वप्न, मनोराज्य और स्मृति—इनमें बाह्य वस्तु का मनोमय स्वरूप संभव होने पर भी जाग्रत अवस्था में बाह्यवस्तु का मनोमयत्व किस प्रकार संभव होगा? उसका सिद्धांत यह है कि बाहरी तौर पर दिखाई देने वाली वस्तुओं में नेत्र आदि के संयोग से अंतःकरण युक्त होने पर बाह्य वस्तु का आकार जैसा है, अंतःकरण भी वैसा आकार धारण करता है। अतः जाग्रत अवस्था में भी बाह्य वस्तु का मनोमय रूप धारण करना संभव होता है। जिस प्रकार साधारण वस्तु आदि के प्रकाशक सूर्य आदि का आलोक जिस वस्तु को प्रकाशित करता है, उस समय वह उस वस्तु का आकार धारण करता है। अन्यथा वस्तु का स्वरूप प्रकाशित नहीं हो पाता। ठीक वैसे

ही समस्त वस्तुओं का प्रकाशक अंतःकरण जिस समय जिस वस्तु पर अधिकार जताता है, उस समय अंतःकरण उसी आकार में बदल जाता है। उसके अतिरिक्त उन सब वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो पाता। बाह्य वस्तुएं नेत्र आदि के समीप में होने से बुद्धि में स्थित प्रमातृ—चैतन्य से अंतःकरण की वृत्ति उत्पन्न होकर उस वस्तु पर अधिकार कर के उसके आकार में बदल जाती है। अतः जो वस्तु जिस रूप में बाहरी तौर पर पंच भौतिक है, वह वस्तु उसी रूप में अंतःकरण में मनोमय हो जाती है।

जीव द्वारा सृष्ट द्वैत प्रपंच ही जीव के बन्धन का कारण

यहां तक जिन बातों पर चर्चा की गई, उससे यह बात सिद्ध हुई है कि बाह्यवस्तु भौतिक और मनोमय के भेद से दो तरह की है। जिस प्रकार बाह्य मृण्मयघट ईश्वर द्वारा सृष्ट, ठीक वैसे ही अंतःकरण के भीतर मनोमय—घट जीव द्वारा सृष्ट है। जिस प्रकार मिट्टी से बना बाह्य घट नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा अनुभूत होता है, ठीक वैसे ही अन्तःकरण के भीतर स्थित मनोमय वस्तु साक्षी—चैतन्य के द्वारा प्रकाशित होती है। अन्वय और व्यतिरेक* से पता चलता है कि मनोमय वस्तुएं जीव के संसार में आवद्ध होने के कारण है। मनोमय वस्तुओं की विद्यमानता के कारण सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं और उनकी अविद्यमानता में सुख और दुख कुछ भी अनुभूत नहीं हो पाते। स्वप्न की अवस्था में बाह्य वस्तुओं के ज्ञान का अभाव होने पर भी जीव मनोमय वस्तुओं से आबद्ध होता है और समाधि, सुषुप्ति और मूर्छा की अवस्था में बाह्य वस्तुओं के होने पर भी मनोमय वस्तुओं का अभाव होने के कारण जीव बंधन रहित होता है। उदाहरण के तौर पर, किसी के पुत्र के परदेश में रहते समय किसी मिथ्यावादी ने उसके पिता के पास आकर बताया कि तुम्हारे पुत्र

***तत्सत्त्वे तत् सत्ता—अर्थात उसके रहने से वह रहेगा—इसका नाम अन्वय है। और तदसत्त्वे तदसत्ता अर्थात उसके न रहने से वह नहीं होगा—इसका नाम व्यतिरेक है। चित्त के रहने से ही सुख और दुःख की अनुभूति होती है—यही अन्वय का उदाहरण है और चित्त के नहीं रहने से सुख और दुःख की अनुभूति नहीं होती—यह व्यतिरेक का उदाहरण है।**

की मृत्यु हो चुकी है। यह सुनते ही पिता अपने पुत्र की मृत्यु संबंधी बात को सच मानकर रोने लगा। फिर किसी दूसरे व्यक्ति के परदेश में स्थित पुत्र की सचमुच मृत्यु हो चुकी है, पर उसे वह संवाद नहीं मिल पाने के कारण वह पुत्र को जीवित समझ कर प्रफुल्ल चित्त में रहता है। अतः यह बात प्रत्येक दृष्टिकोण से सिद्ध हुई है कि मनोमय जगत जीव के बंधन का कारण है। जीव द्वारा सृष्ट मानस प्रपंच रूपी द्वैत जगत के अंतःकरण से परित्यक्त होने पर जीवन्मुक्ति अवस्था प्राप्त होती है। अतः ऊपर बताये गये द्वैत प्रपंच पर ईश्वर–निर्मित द्वैत प्रपंच से पृथक के रूप में चर्चा की गई है।

ईश्वर द्वारा सृष्ट बाह्य जगत जीव द्वारा सृष्ट मनोमय जगत का कारण

ईश्वर द्वारा सृष्ट द्वैत प्रपंच की आवश्यकता है क्योंकि बाह्य जगत की सत्ता के बिना बंधन के कारण स्वरूप अंतःकरण में उस वस्तु के आकार का आभास संभव नहीं हो पाता। यदि कहो कि बाह्य जगत के बिना पहले के संस्कारों से अंतःकरण में जगत के आभास के रूप में मनोमय जगत की संभावना हुई है – इसे स्वीकार करने से इस तरह के बाह्य जगत की आवश्यकता न रहने पर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि इसका प्रतिपादन निरर्थक है। क्योंकि वस्तु की सत्ता को सिद्ध करना प्रमाण की अपेक्षा रखता है। वह किसी अन्य प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रखता। फिर पूर्व जन्मों का संस्कार समूह बाह्य जगत के अस्तित्व की घोषणा करता है। अतः ईश्वर द्वारा सृष्ट द्वैत प्रपंच ही जीव द्वारा सृष्ट द्वैत प्रपंच का कारण अर्थात मनोमय जगत का कारण है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

द्वैत प्रपंच के प्रति मिथ्यात्व का ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान का हेतु

ईश्वर द्वारा सृष्ट द्वैत प्रपंच की निवृत्ति नहीं होने पर भी उसके प्रति मिथ्याज्ञान होते ही अद्वितीय ब्रह्मज्ञान का उदय होता है। द्वैत ज्ञान अद्वैत ज्ञान का विरोधी होने के कारण बाह्य द्वैत जगत का अभाव होने से

अद्वितीय ब्रह्मज्ञान का उदय होगा–ऐसी बात करना कभी भी उचित नहीं होगा। क्योंकि प्रलय के समय समूचे जगत का विनाश होने पर अद्वैत विरोधी द्वैत वस्तु के अभाव में भी गुरु अथवा शास्त्रों आदि का अभाव रहने के कारण अद्वितीय ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। ईश्वर द्वारा सृष्ट द्वैत–बाह्य प्रपंच अद्वैत तत्त्वज्ञान का विरोधी नहीं है। वरन उसके द्वारा ही अद्वैत ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। अर्थात् गुरु अथवा शास्त्रों के उपदेश के बिना अथवा द्वैत प्रपंच के प्रति मिथ्या ज्ञान नहीं होने से कभी भी अद्वैत ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। अतः द्वैत ज्ञान को अनावश्यक नहीं कहा जा सकता।

जीव द्वारा सृष्ट मनोमय जगत के अशास्त्रीय द्वैत प्रपंच की निवृत्ति

जीव द्वारा सृष्ट मनोमय द्वैत प्रपंच शास्त्रीय द्वैत और अशास्त्रीय द्वैत–इन दो भागों में विभाजित है। अशास्त्रीय द्वैत फिर तीव्र और मन्द के नामों से दो भागों में विभाजित है। काम, क्रोध आदि द्वैत भावों को तीव्र और उसके अतिरिक्त अन्य भावों को मन्द कहा जाता है। ब्रह्मजिज्ञासु व्यक्तियों के लिये इन दोनों को दूर करना आवश्यक है, क्योंकि श्रुति शास्त्रों में इस प्रकार का वर्णन है कि ब्रह्मज्ञान की साधना में शांति और समाधि, इन दोनों का अनुष्ठान करना चाहिये। केवल अद्वैत ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व ही काम, क्रोध आदि का त्याग करना होगा–यह बात ठीक नहीं है। जीवन्मुक्त के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने के निमित्त ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी उन्हें त्याग करना चाहिये। वेदांत आदि शास्त्रों में यह बात पुनः प्रतिपादित हुई है कि काम्य वस्तुओं में अनित्यत्व दोष आदि की खोज करना काम, क्रोध आदि से बचने का श्रेष्ठ उपाय है। अतः उपर्युक्त विषयों की खोज करते हुए काम, क्रोध आदि का त्याग कर के सुख से कालयापन करना चाहिये। सदैव विषयों का ध्यान करने से उससे आसक्ति पैदा होती है। बाद में उसके लिए कामना का उदय होता है। उसके बाद स्मृति भ्रम, बुद्धि का नाश और अंत में प्राणों की हानि भी

होती है। अतः इससे अधिक अनिष्टकर कार्य और कुछ नहीं है। निरोध और अभ्यास के द्वारा जीव द्वारा सृष्ट मनोमय जगत के अशास्त्रीय द्वैत–प्रपंच की निवृत्ति होती है। उपर्युक्त रूप में मनोराज्य के पराजित होने पर मन, वृत्ति रहित होकर जड़वत स्थिर होकर रहता है। उस समय परम निर्वाण मुक्ति का पथ साफ हो जाता है।

जीव द्वारा सृष्ट मनोमय जगत के शास्त्रीय द्वैत प्रपंच की निवृत्ति

आत्मा के साथ अभेद रूपी ब्रह्म विषयक विकार को शास्त्रीय मानस प्रपंच कहा गया है। पहले निरोध और अभ्यास के द्वारा अशास्त्रीय द्वैत भाव समूह की निवृत्ति कर के जितने दिनों तक अद्वैत ज्ञान का उद्रेक नहीं होता उतने दिनों तक शास्त्रीय द्वैतवाद का अनुशीलन करना होगा। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने पर तत्संबंधी चर्चा भी त्याग करनी होगी। गुरु वाक्य पर विश्वास रखकर यथानियम से वेदांत शास्त्रों का अध्ययन और पुनः पुनः अभ्यास करके आत्मा और ब्रह्म का एकत्व प्रतिपादित करना होगा। जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उदिभदज–ये चार प्रकार के स्थूल शरीर हैं। इनका भोज्य अन्न आदि उसका आश्रय है। इस बात की जानकारी प्राप्त करनी होगी कि यह समूचा स्थूल ब्रह्मांड पंचीकृत भूत है। क्योंकि कार्य कभी भी उसके कारण से भिन्न नहीं है। इसलिये पंचभूतों के कार्य भूतों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और ये पंचभूतों से भिन्न नहीं है। आकाश आदि पंचभूत अपने–अपने गुणों के साथ पंचीकृत आकाश आदि पंचमहाभूत, सूक्ष्म शरीर आदि सभी केवल अपंचीकृत भूतों में गिने जाते हैं। फिर रजः तमः और सत्व गुणों के साथ अपंचीकृत भूत समूह सही अर्थ में माया के भिन्न कुछ और नहीं है और उस माया से चित्त के आभास से युक्त है। अतः आत्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है और जीव द्वारा सृष्ट मनोमय जगत असत्य है। वह केवल अंतःकरण में ईश्वर द्वारा सृष्ट बाह्य जगत का आभास मात्र है। चित्त वृत्ति के निरोध और विचार से ईश्वर द्वारा सृष्ट द्वैत प्रपंच का खंडन कर सकने से जीव द्वारा

सृष्ट मनोमय जगत अर्थात शास्त्रीय द्वैत प्रपंच की निवृत्ति होती है। उस समय शास्त्र विचार आदि सब कुछ परित्यक्त होता है।

ईश्वर द्वारा सृष्ट द्वैत प्रपंच की निवृत्ति

पहले चर्चा की गई है कि बाह्य जगत की सत्ता के बिना बंधन के कारण अंतःकरण में उन सब वस्तुओं का आकार प्रतिभास संभव नहीं हो पाता। अतः निरोध के द्वारा पूर्व जन्मों के संस्कारों और विचार से बाह्य जगत के संस्कारों की निवृत्ति कर सकने से मनोमय जगत का लय साधित होता है। इसी कारण बाह्य जगत के बारे में विचार करना आवश्यक है। वेदांत विचार परायण व्यक्ति इस जगत को स्वप्न की तरह अनित्य, असत्य, भ्रमात्मक, नाशवान और मिथ्या समझते हैं। जिस प्रकार स्वप्न की अवस्था में असत्य वस्तु सत्य के रूप में प्रतीत होती है और यह ज्ञान कतई नहीं रहता है कि मैं स्वप्न देख रहा हूं, ठीक वैसे ही माया के प्रभाव से यह असत्य जगत सत्य के रूप में प्रतीत होता है और यह ज्ञान कतई नहीं रहता कि मैं माया से मोहित होकर ऐसा देख रहा हूं। अतः यह जगत अज्ञान की अवस्था में सत्य की तरह प्रतीत होने पर भी ज्ञान का उदय होते ही इस जगत का अस्तित्व मिट जाता है। यदि तर्क के बल पर कहो कि वेदांत शास्त्र के कथनानुसार जिस प्रकार आग की चिनगारियां आग के स्वरूप हैं, ठीक वैसे ही हजारों प्रकार के जीव से युक्त यह असीम जगत भी ब्रह्म का स्वरूप है, तब किस प्रकार कहा जायेगा कि यह जगत असत्य और भ्रमात्मक है। इसके उत्तर में वेदांत शास्त्र कहता है कि मृदा, लोहे, चिनगारियों आदि के दृष्टांत से जिस सृष्टि के बारे में वर्णन किया गया है, वह जगत जीव और आत्मा का एकत्व प्रतिपादन करने के लिये उद्दिष्ट है, न कि किसी प्रकार के द्वैतभाव के प्रतिपादन के लिए उद्दिष्ट है। उदाहरण के तौर पर, जिस प्रकार अपरिछिन्न आकाश की घटाकाश, पटाकाश और महाकाश आदि विभिन्न रूप में द्वैत के रूप में कल्पना की जाती है, परंतु सही अर्थ में आकाश एक है और अद्वैत सत्ता के अतिरिक्त कुछ और नहीं है। तब इस

जगत में जीव और परमात्मा के भेद को भी ठीक वैसे ही समझें। आत्मा आत्मास्वरूप है। उसके अतिरिक्त वह किसी अन्य प्रकार का नहीं है। परंतु वह विभिन्न वस्तुओं की अन्तर्वर्त्ती के रूप में विद्यमान है। जिस प्रकार रस्सी अपने आकार में रहने पर भी सर्प के रूप में उसकी कल्पना की जाती है, ठीक वैसे ही स्वरूप में रहने पर भी अनन्त भावों में आत्मा की कल्पना की जाती है।

इस प्रकार आत्मतत्त्व ज्ञान होने से द्वैत प्रपंच का विलय होकर हर तरह के अनर्थ का निरसन होता है। अर्थात उस समय द्वैत ज्ञान और नहीं रहता, अतः आत्मा अद्वय है। आत्मा को अद्वैत के रूप में जान सकने से ''सोऽहं'' अर्थात–''मैं वह ब्रह्म हूं''–इस ज्ञान की प्राप्ति होती है।

अतः अनन्य चित्त से तत्त्वों की पर्यालोचना करने से उस अद्वैत आत्मा के दर्शन प्राप्त होते हैं और उस समय ही अद्वैत ज्ञान परिपक्व होता है।

आत्मा संबंधी विभिन्न मतों का खंडन और आत्मा के एकत्व और अद्वितीयत्व का निरूपण

यह जो परिदृश्यमान जगत को प्रत्यक्ष कर रहे हो, वही अखंडित ब्रह्म का रूप है। यह विशाल मायामय संसार आत्मा में ही लय प्राप्त होता है। इस आत्मा का किसी ने सूक्ष्म तो किसी ने स्थूल के रूप में वर्णन किया है, परंतु आत्मतत्त्व में सूक्ष्म और स्थूल का भेदभाव नहीं है। क्योंकि सूक्ष्म होने से इस विशाल जगत को समावृत करना असंभव है और स्थूल होने से अणु के बराबर जीव के शरीर में उसका रहना असंभव है। आगमवादी आत्मा की मूर्ति की कल्पना करते हैं, अर्थात शिव, विष्णु आदि को परमात्मा का नाम देते हैं। परंतु उन समस्त देवताओं की मूर्ति अथवा देह अनित्य अर्थात चिरस्थायी नहीं है। जो मूर्ति स्वीकार नहीं करता, वह परमात्मा का वर्णन शून्य स्वरूप निराकार के रूप में करता है। परंतु ऐसा मत भी उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा वर्णन किया गया है कि यह

विश्व परमात्मा का विशाल शरीर है। कोई कोई काल को परमात्मा का नाम देते हैं। यह मत भी सही नहीं है, क्योंकि काल का दन्ड, प्रहर, मुहूर्त्त आदि के रूप में व्यवहार होने के कारण उसे भी अखंड नहीं कहा जा सकता। कोई कोई दिशा को परमात्मा का नाम देते हैं, परंतु दिशाएं पूर्व, पश्चिम के भेद से अनेक हैं। मंत्रवादीगण मंत्र को ब्रह्म कहते हैं। परंतु मंत्र के बल पर काल द्वारा दंशित व्यक्ति का इलाज नहीं किया जा सकता। कोई कोई कहता है चौदह भुवन ही परमात्मा है, परंतु चौदह भुवन अनेक जीवों का आवास स्थल होने के कारण जड़ है। कोई कोई मन, बुद्धि, चित्त अर्थात अंतःकरण को आत्मा कहता है। परंतु अंतःकरण तो सुषप्ति की अवस्था में विद्यमान नहीं रहता। अतः वह भी आत्मा नहीं है। मीमांसावादीगण विधि और निषेध से युक्त धर्माधर्म को आत्मा कहते हैं, परंतु देश और काल के भेद से धर्माधर्म में विभिन्नता दिखाई देती है। अतः ऐसा मत भी भ्रमात्मक है। सांख्यवादीगण पंचविशांती तत्त्वों को परमात्मा का स्वरूप होने का निर्णय देते हैं, परंतु आत्मा तत्त्वों के परे है। अतः वह तत्त्व नहीं है। पातंजलि के मतानुसार पंचविशांति तत्त्वों के परे स्थित वस्तु की ईश्वर के रूप में कल्पना की जाती है। परंतु ईश्वर और पुरुष एक तत्त्व हैं। पुरुषातिरिक्त ईश्वर को स्वीकार करने से घट आदि के सदृश्य अनीश्वरत्व प्रतिपादित होता है। अतः यह मत भी सही नहीं है। पाशुपतवादी और अन्यान्यवादीगण परमात्मा की अनन्त प्रकार के पदार्थों के रूप में कल्पना करते हैं। परंतु परमात्मा की अनेक रूपों में कल्पना करना विधिसंगत नहीं है, क्योंकि परमात्मा एक और अद्वितीय है।

भिन्न–भिन्न भावों वाले व्यक्ति उन परमात्मा की अनेक रूपों में कल्पना करते हैं। परंतु जो समझ पाता है कि वही एक परमात्मा में भ्रमवशः विभिन्न पदार्थों की कल्पना की जाती है, वही वेदांत–तत्त्व का मर्म हृदयंगम करके संशयमुक्त होता है। अतः मुक्ति के इच्छुक साधक एकाग्र चित्त से द्वैताद्वैत विवेक के द्वारा अवगत होगा कि अद्वैत ही

परमार्थ है और द्वैतभाव उन अद्वैत का कार्य है। जिस समय समाधि प्राप्त होती है, उस समय द्वैत बुद्धि नहीं रहती। श्रृति में बताया गया है "एकमेवाद्वितीयम"। अतः अद्वैत वैदान्तिक मत सदैव अविरुद्ध है। मांडुक्य उपनिषद में इस प्रकार वर्णन है—

अद्वैतः परमार्थोहि द्वैतं तद्भेद उच्यते
तेषां मुभयथा द्वैतं तेनायं न विरूध्यते

पंचकोष विवेक

आत्मा और उसका स्वरूप

जिस प्रकार आग आंखों से दीखने वाली वस्तुओं में प्रछन्न रूप में रहती है और जिस प्रकार हम लोग उसके इस प्रकार रहने को अपने ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष करने में असमर्थ होने पर भी अनुमान से उसे अनुभव करने में समर्थ होते हैं, ठीक वैसे ही आत्मा पदार्थ समूह में प्रछन्न रूप में रहती है और हम लोग अनुमान से आत्मा के इस तरह रहने को अनुभव करने में समर्थ होते हैं। आत्मा सर्वव्यापी और प्रशांत रूप में रहने के कारण आनंदमय है। आत्मा एक, नित्य और सत्य है। सर्वव्यापी सच्चिदानंद मय आत्मा को ही परमात्मा के नाम से जाना जाता है।

प्रकृति और उसका स्वरूप

आत्मा के अधिकार में स्थित पदार्थ समूह को प्रकृति कहते हैं। आत्मा और उसकी प्रकृति कभी भी परिछन्न रूप में नहीं रहती। फिर अग्नि सर्वव्यापी और एक होने पर भी उसके अधिकार में स्थित पदार्थ जिस प्रकार अनेक रूपों में दिखाई देते हैं, ठीक वैसे ही आत्मा सर्वव्यापी होने पर भी उसके अधिकार में स्थित प्रकृत्ति अनेक रूपों में दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त, पानी जिस प्रकार कभी भाप के रूप में, कभी मेघ के रूप में तो कभी तुषार के रूप में रहता है, ठीक वैसे ही प्रकृति अनेक होने के कारण किसी–किसी अंश में कुछ भिन्न–भिन्न रूपों में दिखाई देती है। फिर प्रकृति अनेक होने के कारण वह किसी न किसी रूप में सदैव सर्वत्र विद्यमान रहती है। अतः आत्मा की तरह प्रकृति को भी सर्वव्यापिनी कहा जाता है। जिस प्रकार स्वरूप में स्थित प्रकृति में आनन्दमय आत्मा विद्यमान रहती है, ठीक वैसे ही अवस्था को प्रकृति का आनन्दमय स्वरूप कहा जाता है। प्रकृति का यह स्वरूप अपरिवर्तित रहने से संसार में कभी भी सृष्टि होना संभव नहीं हो पाता। प्रकृति के

स्वरूपान्तर ग्रहण को सृष्टि का नाम दिया जाता है और एकमात्र अनुमान से ही स्वरूपांतर ग्रहण अनुभूत होता है। जिस प्रकार पानी शीत और उष्म के कारण भाप आदि के रूप में रूपांतरित होता है, ठीक वैसे ही प्रमाण विपर्यय आदि वृत्ति* के कारण प्रकृति वैसे आनन्दमय स्वरूप से दूसरे स्वरूपों में बदल जाती है। प्रकृति के अन्यान्य स्वरूप क्रमशः विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय के नामों से ख्यात है। इसके अतिरिक्त और अनेक प्राकृतिक स्वरूप हो सकते हैं, परंतु वे सब हमारे बुद्धिगम्य नहीं हैं। लकड़ी आदि के परिवर्तन से जिस प्रकार उसमें स्थित अग्नि का स्वरूप बदल जाता है, ठीक वैसे ही प्रकृति के स्वरूप के परिवर्तन से अधिष्ठित आत्मा का भी स्वरूप बदल जाता है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि इस परिवर्तन के परिणाम स्वरूप एक समय समूची प्रकृति अथवा सर्वव्यापी आत्मा स्वरूपांतर ग्रहण करती है।

आनन्दमय आत्मा का स्वरूपान्तर

शांत भाव में रहते समय यदि किसी इष्ट अथवा अनिष्ट पदार्थ से हमारा सामना होता है, तो जिस प्रकार हम में अशांति अथवा विकार होता है, ठीक वैसे ही शांत भाव में स्थित आत्मा भी जब वैसे किसी अन्य प्राकृतिक स्वरूप का दर्शन करती है, तो उसमें अशांति अथवा विकार

***प्रमाण विपर्यय आदि वृत्तियाँ : प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये ही चित्तवृत्ति के पंचविध विभाग हैं। विषय के संस्पर्श से चित्त की जो विषयाकार प्राप्ति, अर्थात विषय से संबंध होने के कारण चित्त की जो अवस्था, परिणाम या परिवर्तन होता है, उसका नाम वृत्ति है। इन पंचविध वृत्तियों में प्रमिति या प्रमाणीकरण का नाम प्रमाण है। जो वस्तु जैसी है, उसे उस रूप में न जानकर अन्य प्रकार से जानने का नाम विपर्यय है। आकाश कुसुम के नाम से कोई वस्तु नहीं है अर्थात यह मिथ्या है, फिर भी आकाश-कुसुम आदि शब्दों को सुनने से उस वस्तु के बारे में जो जानकारी होती है, उसे विकल्प कहा जाता है। चित्त की जिस अवस्था में जाग्रत और स्वप्नवृत्ति नहीं रहती, वह तमो विषया वृत्ति अथवा अज्ञान अवलंबिनी वृत्ति है। इसका नाम निद्रा है और अनुभूत अर्थात ज्ञात विषय जो अनपहरण होता है—अर्थात आलोक होता है, उसका नाम स्मृति है।**

उपस्थित होता है। उदाहरण के तौर पर जिस प्रकार जंगल में सूखी लकड़ियों के आपस में टकराने के परिणामस्वरूप शांत भाव में स्थित अग्नि अथवा उसका अंश विशेष प्रदीप्त या चैतन्ययुक्त हो जाता है, ठीक वैसे ही वृत्तियों से संबंध होने के कारण प्रकृति के भीतर प्रछन्न भाव में स्थित आनन्दमय आत्मा अथवा आत्मा का अंश विशेष चैतन्य स्वरूप में पहुंच जाता है। जिस प्रकार अग्नि के प्रदीप्त होने से लकड़ियों के पूर्व स्वरूप में असदभाव अर्थात परिवर्तन होता है, ठीक वैसे ही चैतन्य स्वरूप में पहुंचने पर आत्मा के आधार स्थानीय प्रकृति में भी असद्भाव या रूपांतर होता है। स्वरूपांतर में लाई गई आत्मा में भी इस समय प्रदीप्त अग्नि की तरह सर्वव्यापी और आनन्दमय स्वरूप के अपलाप के संबंध में विज्ञान कोष जागृत होता है।

आत्मा का विज्ञानमय स्वरूप

इसी कारण चैतन्य स्वरूप में लाई गई आत्मा के इस प्रथम स्वरूपान्तर को विज्ञानमय स्वरूप कहा जाता है। विज्ञानमय आत्मा द्वारा अधिकृत प्रकृति को विज्ञानमय आत्मा का विज्ञानमय शरीर कहते हैं। जो सब प्रकृति इस प्रकार विज्ञानमय स्वरूप के अंतर्गत आती है, उन सब को प्राकृतिक विज्ञानमय क्षेत्र कहते हैं। प्राकृतिक विज्ञानमय क्षेत्र में विज्ञानमय शरीर धारी जो सब आत्माएं विद्यमान हैं, उन्हें ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहते हैं।

फिर, जिस प्रकार लकड़ी के भीतर स्थित प्रदीप्त अग्नि अपने पूर्व स्वरूप की प्राप्ति के निमित्त अपने अधिकृत लकड़ी को दहन करने में प्रवृत्त होती है, ठीक वैसे ही विज्ञानमय स्वरूप में लाई गई आत्मा अपने अधिकृत प्राकृतिक स्वरूप का भोग करके अपने पूर्व स्वरूप में पुनः लौटने के लिये चेष्टा करती रहती है। इसी को ही चैतन्य स्वरूप में लाई गई आत्मा की वासना कहते हैं। इस वासना से प्रेरित होने के परिणामस्वरूप विज्ञानमय आत्मा में विज्ञान का भी अभाव होता है। यदि समूची विज्ञानमय आत्मा प्राकृतिक विज्ञानमय क्षेत्र में स्थित अन्यान्य विज्ञानमय पदार्थ

समूह को भोग करने की वासना नहीं रखती तो और किसी प्रकार की सृष्टि की संभावना नहीं रहती।

आत्मा का मनोमय स्वरूप

विज्ञानमय आत्मा की इस तरह भोग करने की वासना विज्ञानमय क्षेत्र में स्थित विपर्यय वृत्ति के साक्षात्कार के कारण संभव होता है। विपर्यय वृत्ति से संबंध रहने के कारण विज्ञानमय आत्मा के विज्ञानमय स्वरूप का अपलाप होता है। जो सब विज्ञानमय आत्मा विपर्यय वृत्ति का अनुसरण करती है, वे राख से ढकी आग की तरह विज्ञानमय स्वरूप से मनोमय स्वरूप में लाई जाती है। विज्ञानमय आत्मा के मनोमय स्वरूप में लाये जाने से उस पर अधिष्ठित प्रकृति को मनोमय आत्मा का मनोमय शरीर कहते हैं। जो सब प्रकृति इस प्रकार मनोमय शरीर के अन्तर्गत आती है, उन सब को प्राकृतिक मनोमय क्षेत्र कहते हैं। पुराण शास्त्र में इस प्रकार वर्णन है कि इन्द्र आदि देवताओं की आत्मा मनोमय शरीरधारी है।

आत्मा का प्राणमय स्वरूप

जो सब मनोमय शरीरधारी आत्मा प्राकृतिक मनोमय क्षेत्र में स्थित विकल्प वृत्ति का अनुसरण करती है, उनके मनोमय शरीर का अपलाप होता है। ऐसी मनोमय आत्मा प्राणमय रूवरूप में बदल जाती है। प्राणमय आत्मा द्वारा अधिष्ठित प्रकृति का प्राणमय आत्मा का प्राणमय शरीर कहते हैं। जो सब प्रकृति इस प्रकार प्राणमय शरीर के अन्तर्गत आती है, उन सब को प्राकृतिक प्राणमय क्षेत्र कहते हैं। प्राणमय शरीरधारी प्राणमय आत्मा यक्ष, रक्ष, गंधर्व, भूत, प्रेत वेताल आदि के नाम से जानी जाती हैं।

आत्मा का अन्नमय स्वरूप

जो सब आत्मा प्राकृतिक प्राणमय क्षेत्र में स्थित निद्रा वृत्ति का अनुसरण करती है, उनके प्राणमय स्वरूप का अपलाप होता है और ऐसी

प्राणमय आत्मा अन्नमय स्वरूप में लाई जाती है। अन्नमय स्वरूप में लाई गई आत्मा हम लोगों की आत्मा अथवा जीवात्मा के नाम से ख्यात है। जीवात्मा अधिकृत प्रकृति को जीवात्मा का अन्नमय शरीर कहते हैं। जो सब प्रकृति, अन्नमय स्वरूप के अन्तर्गत आती है, उन सब को प्राकृतिक अन्नमय क्षेत्र कहते हैं।

जीवात्मा की वर्तमान अवस्था

प्राकृतिक अन्नमय क्षेत्र में स्मृति–वृत्ति विद्यमान रहती है। इसके अतिरिक्त प्रमाण विपर्ययादि वृत्ति समूह सूक्ष्म रूप में अन्नमय कोष में रहता है। स्मृतिवृत्ति का अनुसरण करके अन्मय शरीर धारी आत्मा संसार के भीतर सदैव असहनीय यंत्रणा का भोग करती है। परंतु जीवात्मा का पूर्वस्वरूप किसी दिन सर्वव्यापी और आनन्दमय था। वृत्ति से संबंध रहने के कारण उसका वह स्वरूप दूर हो चुका है। आनन्दमय आत्मा विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय स्वरूप से यथाक्रम वंचित होने के परिणामस्वरूप एक मात्र अन्नमय स्वरूप विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त आनन्दमय स्वरूप से बंचित होने के परिणामस्वरूप आत्मा का जो चैतन्य स्वरूप प्रकट होता है, अन्नमय आत्मा का भी वह चैतन्य स्वरूप विद्यमान रहता है। पुनः आनन्दमय स्वरूप से यथाक्रम विज्ञानमयादि के क्रम से अन्नमय स्वरूप में अवन्नति होने के परिणामस्वरूप जीवात्मा का आनन्दमयादि के क्रम से प्राणमय तक प्रत्येक स्वरूप की यथासंभव सूक्ष्म स्मृति विद्यमान रहती है। इसके अतिरिक्त आत्मा के अन्नमय शरीर में प्राणमय आदि अन्यान्य शरीर, क्रमशः सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते हैं। वे सब स्वरूप हम लोगों की आत्मा के सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर कहलाते हैं। सूक्ष्म विचार से पता चलता है हम लोगों का अन्नमय शरीर प्राणमय शरीर के, प्राणमय शरीर मनोमय शरीर के, मनोमय शरीर विज्ञानमय शरीर के और विज्ञानमय शरीर आनन्दमय शरीर के द्वारा अपने अपने आवश्यकीय कार्यों में लगे रहते हैं। प्रत्येक शरीर में अधिष्ठित आत्मा पहले बताई गई वासना के अनुसार समान स्वरूप वाले

पदार्थों के भोक्ता के रूप में वर्तमान रहने के कारण हम लोगों का प्रत्येक शरीर स्वजातीय शरीर के द्वारा अपना अपना विकास करता है। अर्थात जिस प्रकार हम लोगों का अन्नमय शरीर दूसरे अन्नमय शरीरों के द्वारा अपना पोषण कराता है, ठीक वैसे ही हम लोगों के प्राणमय आदि शरीर समूह का दूसरे प्राणमय शरीर समूह के द्वारा पोषण होता है। पुनः हम लोगों के अन्नमय शरीर में जिस प्रकार अनेक प्रकार के कार्य पूरे होते हैं, ठीक वैसे ही सूक्ष्म शरीर भी अनेक कार्य करते रहते हैं। इस के अतिरिक्त हम लोगों की आत्मा सदैव अन्नमय स्वरूप में रहने पर भी स्वप्न, सुषुप्ति और मृत्यु आदि की अवस्थाओं में न्यूनाधिक समय के लिये अन्नमय शरीर से प्राणमय आदि सूक्ष्म शरीर में लाई जाती है।

जीवात्मा का अभाव और उसकी निवृत्ति का उपाय

आनन्दमय आदि शरीरों से बंचित होकर आत्मा के अन्नमय शरीर में लाये जाने के परिणामस्वरूप अन्नमय और अन्यान्य शरीरों में स्थित अभाव समूह समवेत होकर हमारे सामने प्रकट होते हैं। इसी कारण हम लोग प्रतिदिन अन्नमय शरीर के लिए अन्न के अभाव, प्राणमय शरीर के लिए प्राणों के अभाव, मनोमय शरीर के लिए मन के अभाव, विज्ञानमय शरीर के लिए विज्ञान के अभाव और आनन्दमय शरीर के लिए आनन्द के अभाव का अनुभव करते रहते हैं। अभावों की निवृत्ति के लिए भोग और वासना से प्रणोदित होकर हम लोग संसार में जिन सब कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, भूख और प्यास मिटने की तरह किसी प्रकार का अभाव क्षणभर के लिए दूर होने पर भी सही अर्थ में पहले की तरह विद्यमान रहती है। पुनश्च पत्नी, पुत्र, अर्थ और संपत्ति का हम लोग यह समझ कर संग्रह करने हेतु व्यस्त हो जाते हैं कि ये सब हमारा अभाव दूर करते हैं, परंतु उन सब वस्तुओं का संग्रह करने पर भी उनसे अभाव पूरा न होकर और तरह तरह के अभाव आ पहुंचते हैं। जो भी हो, इस बात की सहज ही उपलब्धि की जाती है कि साधारण आत्मा अर्थात जीवात्मा का यह अभाव पिंजड़े में आवद्ध पक्षी के अभाव की तरह स्वतः न पहुंच कर किसी दूसरे के जरिये पहुंचता है। दूसरे के जरिये पहुंचते रहने के

कारण जीवात्मा का अभाव दूर होना संभव नहीं हो पाता। हम लोग अपनी आत्मा का अभाव दूर करने के लिए संसार क्षेत्र में जो सब कार्य करते हैं, वे सब मुख्यतया हम लोगों के अन्न के अभाव को दूर करते हैं। एक मात्र अन्न का अभाव दूर करने के लिए समूचा जीवनकाल बीत जाता है, फिर भी सही अर्थ में सफलता नहीं मिलती। तब प्राण आदि का अभाव दूर हो ही नहीं पाता, इस बात में कोई विचित्रता नहीं है। फिर भोग के साधनों से जिस प्रकार भोग की अभिलाषा शांत नहीं हो पाती अथवा अपनी इच्छा से अधिक मात्रा में भोजन करने पर भी जिस प्रकार क्षुधा का पूरी तरह मिटना संभव नहीं हो पाता, ठीक वैसे ही अन्नमय आदि पदार्थों से भी अन्नमय आदि शरीरों में अन्न आदि पदार्थों का दूर होना संभव नहीं हो पाता।

वृत्तियों से संबंध तोड़ कर अभाव दूर करना

एक एक तरह की वृत्ति से संबंध रहने के कारण हम लोगों के तरह तरह के अभावों की संभावना रहती है और वृत्ति के संबंध समूह के व्यतिरेकन्मुखी परिहार से उत्तरोत्तर सभी प्रकार के अभाव दूर होते हैं। अर्थात स्मृति–वृत्ति के परिहार से अन्न का अभाव, निद्रा–वृत्ति के परिहार से प्राणों का अभाव, विकल्प वृत्ति के परिहार से मन का अभाव, विपर्यय वृत्ति के परिहार से विज्ञान का अभाव और प्रमाण वृत्ति के परिहार से आनन्द का अभाव दूर होता है। एक मात्र अभ्यास, विचार और वैराग्य से वृत्ति समूह का परिहार करना संभव होता है। वृत्ति समूह के परिहार के साथ अन्नमय आदि शरीरों को पार किया जाता है। अतः उस समय जीवात्मा के अन्नमय आदि इतर स्वरूप जीर्णवस्त्र के समान परित्यक्त होते हैं और उसका सर्वव्यापी आनन्दमय स्वरूप प्रकट होता है।

अन्नमय आदि शरीर आत्मा के कोष जैसे हैं

आनन्दमय आदि शरीर से अन्नमय शरीर तक आत्मा के इन पंचविध शरीरों को वेदांत शास्त्र में पंचकोष कहते हैं। जिस प्रकार तलवार कोष के भीतर आवृत्त रहती है, ठीक वैसे ही आत्मा भी अन्नमयादि शरीरों में अधिष्ठित रहती है। अतः अन्नमयादि शरीर आत्मा के कोष जैसे हैं।

आत्मा का वास्तविक स्वरूप इन पंचकोषों में आवृत्त रहता है। इन कोषों से संबंध रहने के कारण आत्मा का अपना स्वरूप दूर हो जाता है। अन्नमय कोष अथवा स्थूल शरीर को आत्मस्वरूप में अनुभव करके हम लोगों की आत्मा अर्थात जीवात्मा संसार में निरंतर असह्य यंत्रणा का भोग करती है। अपना स्वरूप आवृत रहने के कारण आत्मा स्वयं को नहीं जान पाती। अतः वह प्रकृति के गुणों का भोक्ता बन जाती है। पंचकोष–विवेक से आत्मा का स्वरूप ज्ञात होता है। पंचकोष विवेक के विचार से जो व्यक्ति आत्मा को जानता है, वह ब्रह्मानंद प्राप्त करता है। आत्मा का जन्म नहीं होने के कारण स्वरूप प्राप्त पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता। अतः मुक्ति के इच्छुक साधकों के लिए पंचकोष विवेक पर विचार करना नितांत आवश्यक है।

अन्नमय कोष आत्मा का स्वरूप नहीं

श्रुति में आत्मा को "गुहातीत" बताया गया है। स्थूल शरीर में अन्नमय कोष के भीतर प्राणमय कोष, प्राणमय कोष के भीतर मनोमय कोष, मनोमय कोष के भीतर विज्ञानमय कोष, विज्ञानमय कोष के भीतर आनन्दमय कोष परंपरा के क्रम में हैं। इस पंचकोष को गुहा (गुफा) कहते हैं। गुहा शब्द के द्योतक पंचकोष विवेक से साधक आत्मा का स्वरूप अवगत होने में समर्थ होते हैं। अतः इस पंचकोष के संबंध में विचार किया जाता है। माता–पिता के द्वारा खाये जाने वाले अन्न के परिणामस्वरूप बने भूत, शुक्र और शोणित से उत्पन्न यह स्थूल शरीर अन्न का परिणाम और अन्न से बढ़ता है। इस लिये इसे अन्नमय कोष कहते हैं। यह अन्नमय कोष आत्मा के स्थूल विषय का भोग करने का आश्रय होने के कारण आत्मा इस स्थूल शरीर में ठहर कर शब्द, स्पर्श आदि स्थूल विषय समूह का भोग करती है। जिस प्रकार कोई महाराजा अनेक द्वार वाले विशेष महल में निवास करके विविध विषयों का भोग करता है, ठीक वैसे ही आत्मा उपाधि युक्त होकर नौद्वारों से युक्त इस शरीर में इंद्रियों द्वारा सेवा प्राप्त करके विविध विषयों का भोग करती है। अतः इस अन्नमय कोष को नित्यसिद्ध और अविनाश आत्मा का स्वरूप

नहीं कहा जाता, क्योंकि यह अन्नमय कोष अनित्य है अर्थात् उत्पत्ति से पहले और मृत्यु के बाद उसका अभाव रहता है। पूर्व जन्म में असत और अनित्य वह स्थूल शरीर किस प्रकार इहजन्म संपन्न कर सकता है, क्योंकि पूर्व जन्म में अनुष्ठित कर्मों के अनुरोध के बिना इहजन्म लेना संभव नहीं हो पाता। पुनः जो भावी जन्म में असत होगा, उसके लिये इहजन्म में संचित कर्मों का भोग करना भी असंभव होता है। अतः अन्नमय कोष आत्मा नहीं।

प्राणमय कोष आत्मा का स्वरूप नहीं

प्राण आदि जो पंचवायु पूरे स्थूल शरीर में व्याप्त होकर उसमें बलाधान करके इंद्रियों को अपने–अपने विषयों में प्रवृत्त कराती है, उसे प्राणमय कोष कहते हैं। वाक (वाणी) आदि कर्मेन्द्रिय और शरीर के द्वारा पाप अथवा पुण्य आदि जिन कर्मों का अनुष्ठान होता है, प्राणमय कोष ही उन सब का कर्त्ता है। उस प्राणमय कोष को आत्मा का स्वरूप नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वायु जड़ पदार्थ है। अतः वायु से पूर्ण प्राणमय कोष चैतन्य रूपी आत्मा नहीं।

मनोमय कोष आत्मा का स्वरूप नहीं

श्रोत्र आदि पंच ज्ञानेन्द्रिय के साथ मन को मिलाकर "मनोमय कोष" कहलाता है। अन्नमय आदि अहंज्ञान और गृह–धन आदि अपनत्व बुद्धि की समत्व बुद्धि का कर्त्ता ही मनोमय कोष है। इस मनोमय कोष में काम, क्रोध आदि वृत्तिया उत्पन्न होती हैं और उसके द्वारा प्रयत्न करके कार्य का अनुष्ठान और भोग करते हुए बाह्य कामना करती हैं। मन से ही बंधन और मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतः मनोमय कोष भी आत्मा का स्वरूप नहीं। क्यों काम, क्रोध आदि वृत्तियों के परिणामस्वरूप उसमें विकार होता है। अतः मनोमय कोष अधिकारी आत्मा नहीं है।

विज्ञानमय कोष आत्मा का स्वरूप नहीं

श्रोत्र आदि पंच ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धि को मिलाकर उसे विज्ञानमय

कोष कहते हैं। इसे महान कहते हैं। अभिमान इसकी एक वृत्ति है और यह कर्त्तृत्व आदि लक्षण वाला तथा पूरे संसार का निर्वाहक है। इसे विज्ञानमय की संज्ञा दी गई है। इस विज्ञानमय कोष को भी आत्मा का स्वरूप नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह कोष सुषुप्ति के समय अज्ञान में लीन हो जाता है। अतः विज्ञानमय कोष उत्पत्ति–विनाश रहित आत्मा नहीं।

विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय, इन तीनों कोष के एकत्र होने पर उसे **आत्मा का सूक्ष्म शरीर** कहा जाता है।

आनन्दमय कोष भी आत्मा का स्वरूप नहीं

जो अन्तर्मुखी बुद्धि रूपी वृत्ति भोग के समय चिदानन्द प्रतिविम्ब वाली और भोग की समाप्ति के बाद निद्रा के रूप में प्रकृति में लीन होती है, वही आनन्दमय कहलाता है। इसकी नित्यता नहीं रहने के कारण यह आनन्दमय कोष भी आत्मा का स्वरूप नहीं। क्योंकि चिदानन्दमय आत्मा सनातन है।

आत्मा का स्वरूप

उपर्युक्त पंचकोष का त्याग करने के बाद शेष जो साक्षी रूपी ज्ञान है, वही आत्मा का स्वरूप है। इस पंचकोष रूपी उपाधि के बल से आत्मा ही जीव के रूप में जानी जाती है। जिस प्रकार लौकिक संपर्क में व्यावहारिक रूप में कोई पुत्र के लिए पिता और पोते के लिये पितामह के रूप में जाना जाता है और उस पुत्र अथवा पोते के अभाव में वह पिता अथवा पितामह कुछ भी नहीं है, ठीक वैसे ही एक आत्मा माया शक्ति रूपी उपाधि की सहायता से ईश्वर और पंचकोष की उपाधि से जीव तथा उपाधि के अभाव में निरूपाधिं होकर केवल चैतन्य मात्र होकर रहती है। विचार के द्वारा वृत्तियों का परिहार करने के साथ–साथ अन्नमय आदि कोषों को भी पार किया जाता है। अतः उस समय आत्मा स्वरूप में प्रकट होती है।

जीवात्मा का निर्वाण अथवा आत्मस्वरूप में अवस्थान

पहले ही बताया गया है कि अभ्यास और वैराग्य से कोष समूह का परिहार संभव होता है। पंचकोष विचार से आत्मा का स्वरूप अवगत होकर अन्नमय आदि के क्रम से विज्ञानमय आदि तक के कोषों को पार करके आन्नदमय क्षेत्र में पहुंचने पर अर्थात अन्नमय आदि कोषों के साथ प्राणमय आदि कोषों के जो संबंध रहते हैं, अभ्यास के द्वारा उनका निरोध करने में समर्थ हो सकने से जीवात्मा अपने स्वरूप में लौटने में समर्थ होती है। आत्मा के स्वरूप में लौटने को ही जीवात्मा का निर्वाण कहा जाता है। जिस प्रकार राख अपने भीतर स्थित आग को प्रज्ज्वलित करने में समर्थ नहीं हो पाता, ठीक वैसे ही वृत्तियां निर्वाण प्राप्त आत्मा को स्वरूपान्तरित नहीं कर पातीं। अतः जिस प्रकार जलती आग निर्वाण प्राप्त होती है, जीवात्मा भी निर्वाण को प्राप्त होता है।

अतः विचार से पंचकोष विवेक और अभ्यास के द्वारा वृत्तियों का परिहार करने से जो हिरण्मय हृदय कोष में स्थित है, जिसने दिव्य ज्योति से अपने गृह रूपी हृदय को हिरण्मय किया है, उस निष्कलंक आत्मा के दर्शन प्राप्त होते हैं। उस समय मन मे आता है–

हिरण्मय परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलंम।।

आत्मानात्म विवेक

एक एवं अद्वितीय ब्रह्म के कार्य–कारण भाव के निमित्त जीव और ईश्वर के भेद से द्विविध उपाधि की सृष्टि हुई है। कारण भाव के निमित्त अन्तर्यामी ईश्वर की उपाधि और कार्य–भाव के निमित्त अहं शब्द युक्त जीव–उपाधि की सृष्टि हुई है। ब्रह्म अद्वैत होते हुए भी कार्य–कारण के निमित्त द्वैत के रूप में प्रतीत हो रहे हैं। इस द्वैत भाव के निराकरण के लिए विवेक का आश्रय लेना नितांत आवश्यक है। जीव का विवेक ज्ञान होने से जीव और ईश्वर रूपी उपाधियों का नाश होकर केवल शुद्ध चैतन्य ही शेष रहता है। वह अवशिष्ट शुद्ध चैतन्य ही अद्वैत ब्रह्म है। इस प्रकार से अद्वैत ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होने से संसार के बंधन से मुक्ति मिलती है।

ज्ञान ही अविद्या की निवृति अथवा मुक्ति का एक मात्र साधन

कर्म अथवा कर्म युक्त ज्ञान से मुक्ति प्राप्त करने की आशा करना नितांत असंभव है। क्योंकि अज्ञान के साथ कर्म का किसी भी प्रकार का विरोध नहीं रहने के कारण कर्म अज्ञान का नाश नहीं कर पाता। जीव कर्म से जन्म लेता है और कर्म से ही उसका विनाश होता है। जन्म और मृत्यु का यह प्रवाह कर्म का परिणाम है। कर्म अज्ञान का कार्य है और अज्ञान से ही वह कर्म बढ़ता है। जिस वस्तु की वृद्धि जिस वस्तु से होती है, उससे उसका कभी भी विनाश नहीं होता। जिसके साथ जो एकत्र रहता है, वह उसका निवारक नहीं हो पाता। अज्ञान से कर्म की उत्पत्ति होती है। नित्य–शुद्ध–बुद्ध स्वरूप आत्मा में ब्राह्मणत्व आदि धर्म का आरोप करके पुरुष ब्राह्मणोचित कर्म करने में प्रवृत्त होता है। अतः अज्ञान ही कर्म का कारण है।

चित्त शुद्धि के अतिरिक्त कर्म कभी भी मुक्ति का उपाय नहीं

कर्म केवल अज्ञान को बढ़ावा देता है और अज्ञान के द्वारा ही उसकी वृद्धि होती है। अतः कर्म किस प्रकार अज्ञान के नाश का कारण बन सकता है? साधारणतया दिखाई देता है कि जो जिससे जन्म लेता है अथवा जिसके द्वारा जिसकी वृद्धि होती है, वह कभी भी उसका नाशक नहीं हो पाता। जिस प्रकार आलोक और अंधकार एक साथ नहीं रह सकते, ठीक वैसे ही ज्ञान और कर्म का एक साथ रहना संभव नहीं। ज्ञान आलोक और अंधकार एक दूसरे की विरोधी वस्तुएं हैं। आलोक का संयोग होते ही अंधकार का विनाश होता है। अतः आलोक अंधकार के नाश का कारण होता है। अतः आलोक और अंधकार एक दूसरे के ध्वंस का कारण हैं और आलोक और अंधकार के बीच विरोधभाव विद्यमान है। उसी प्रकार वास्तव क्षेत्र में जहां पर ज्ञान होता है, वहीं पर उसी ही क्षण अज्ञान का नाश होता है। अतः ज्ञान अज्ञान के नाश का मुख्य कारण है। इसलिये दोनों का एक साथ मिलकर रहना कभी भी संभव नहीं है। परंतु कर्म और अज्ञान एक साथ रहते हैं। जो जिस के साथ एक साथ रहता है, वह उसका नाशक नहीं हो सकता। अतः कर्म कभी भी अज्ञान का नाश नहीं कर पाता। **एक मात्र ज्ञान ही अज्ञान का नाशक** है।

तमः और प्रकाश के समान अज्ञान और ज्ञान, इन दोनों के बीच परस्पर विरोध दिखाई देता है। अतः ज्ञान के बिना कभी भी अज्ञान का नाश नहीं हो पाता। अतः बुद्धिमान व्यक्ति को अज्ञान के नाश के लिए ज्ञान की चर्चा करनी चाहिये। वह ज्ञान आत्मा और अनात्मा–देह आदि के भेद ज्ञान से उत्पन्न होता है। वह किसी अन्य प्रकार से कभी भी संभव नहीं होता। इसलिए ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से तर्क के द्वारा आत्मा और अनात्मा के बारे में विचार करना चाहिए। क्योंकि उस विचार से अनात्मा में आत्मत्व–बुद्धि से अनात्मा में आत्मत्व–बुद्धि रूपी ग्रंथि का विनाश होता है। **आत्मा का स्वरूप अवगत होकर अनात्मा से आत्मा की पृथक उपलब्धि करने को आत्मानात्म विवेक कहा जाता है।**

आत्मा के सुख-स्वरूप का निरूपण

आत्मा अत्यंत प्रीति का स्थान होने के कारण आत्मा को सुख–स्वरूप कहा जाता है। आत्मा प्राणियों का नितांत प्रिय है। क्योंकि पत्नी, पुत्र, आत्मीय स्वजन, और गृह, धन आदि पदार्थ समूह तथा वाणिज्य, कृषि, गो–रक्षण, राजसेवा, चिकित्सा आदि कार्य आत्मसंरक्षण के लिए किये जाते हैं। अतः वह आत्मा ही सर्वापेक्षा अन्तरंग वस्तु है। सुख देने वाली वस्तुओं के प्रति समस्त प्राणियों में सीमित प्रीति दिखाई देती है, परन्तु कभी भी और कहीं भी आत्मा के प्रति प्राणियों में सीमित प्रीति नहीं दिखाई देती। जिस वस्तु को प्रिय कहा जाता है, वह कभी भी मनुष्यों के लिये अप्रिय नहीं होती। विपदा और संपदा के समय आत्मा जिस प्रकार प्रिय है, कोई दूसरी वस्तु वैसी प्रिय नहीं है। जिसके इन्द्रिय कमजोर हो चुके है, जो व्यक्ति वृद्ध अथवा मृत्यु के सामने पड़ा हुआ है, वह भी जीवित रहने की आशा रखता है। क्योंकि आत्मा सर्वापेक्षा प्रिय है। जीव की प्रवृत्ति और निवृत्ति और इधर–उधर की चेष्टाएं आदि सब कुछ क्रियाकलाप केवल उस आत्मा के लिए उद्दिष्ट है, दूसरों के लिए नहीं। इसी कारण से आत्मा सभी प्राणियों के लिए सर्वाधिक प्रीति का स्थान है, जिस के साथ रहने से समस्त वस्तुएं उपयोगी प्रतीत होती हैं। किसी दूसरे की प्रीति के लिए कोई किसी का प्रिय नहीं होता। केवल अपने प्रयोजन के लिए अर्थात आत्मा की प्रीति के लिए एक दूसरे का प्रिय होते हैं। उपर्युक्त कारणों से आत्मा ही केवल सुख स्वरूप है। शास्त्र में जिसे सबसे प्रिय कहा गया है, जो इस आत्मा की अपेक्षा किसी दूसरे को प्रिय मानता है, वह उससे दुख पाता है। अतः आत्मा और अनात्मा के बारे में विचार करके उसके सच्चे स्वरूप को जानना चाहिये।

विषयात्मवाद का खंडन

अज्ञ, वेदान्त श्रवण के विमुख, पाण्डित्य का अभिमान रखने वाले, ईश्वर के प्रति अनुराग रहित, सदगुरु की कृपा के प्रति विमुख आदि जन साधारण सुख–स्वरूप आत्मा को अवगत न होकर दुख देने वाले विषय

समूह को सुख–स्वरूप समझ कर बाह्य सुख के लिए प्रयत्नशील होते हैं। मूढ लोग नहीं जानते कि इस जगत में प्रिय वस्तु के ध्यान, दर्शन, उपभोग आदि में प्राणियों को जिस आनन्द की अनुभूति होती है, वह उस वस्तु का धर्म नहीं है। क्योंकि उन सब की उपलब्धि मन में होती है। वस्तु के धर्म की उपलब्धि मन में किस प्रकार होगी? नारी, धन, चन्दन आदि के दर्शन और भोग से मन में जो आनन्द उत्पन्न होता है, वह उन वस्तुओं अर्थात नारी, धन, चन्दन आदि का धर्म नहीं है। यदि आनन्द वस्तु का धर्म होता, तो चन्दन शीत काल में भी सुख देता। विशेषतया केवल मन में ही वस्तु के धर्म की उपलब्धि होती है। इस कारण आनन्द कभी भी वस्तु का धर्म नहीं हो सकता। कर्म के उत्कर्ष और अपकर्ष के कारण विषयजन्य सुख विभिन्न प्रकार के होते हैं। अतः विषय से सम्पर्क जन्य सुख विष घुले अन्न की तरह दुखदायक है। आत्मा ही केवल सुख स्वरूप है। उसके साथ रहने के कारण विषय समूह सुखत्व प्राप्त होते हैं। विषय का सान्निध्य रहने के कारण जिस सुख की उपलब्धि होती है, वह विश्वभूत चैतन्य के अंश का स्फुरण मात्र है, वह अचेतन का विषय नहीं। जिस प्रकार चांद के अनुग्रहवश कुमुदिनी को आनन्द मिलता है, ठीक वैसे ही आत्मा के स्फुरण से युक्त होकर सभी जड़ वस्तुओं में आनन्द का उद्रेक होता है। अतः विषय आत्मा नहीं है। आत्मा के मिथ्याज्ञान के कारण विषय में सुख की उपलब्धि होती है। इसलिए विद्वानलोग सुख स्वरूप आत्मा को अवगत होकर विषय से उत्पन्न बाह्य सुख प्राप्त करने का प्रयास नहीं करते।

पुत्रात्मवाद का खंडन

कोई कोई अल्प बुद्धि वाले लोग पुत्र को अपनी आत्मा मान बैठते हैं। एक दिये से दूसरा दिया जलने की तरह पिता से पुत्र उत्पन्न होता है। अंकुर में बीज के गुण रहने की तरह पुत्र में पिता के गुण दिखाई देते हैं। अतः अत्यंत अज्ञानी लोग पुत्र को आत्मा मान कर भ्रम धारणा पालते हैं। उनकी यह धारणा है कि **''आत्मा वै पुत्रनामासि''** यह श्रुतिवाक्य

और आत्मज शब्द पुत्र में आत्मत्व का प्रतिपादन करता है। परन्तु सामान्य चिंतन करने से पता चलेगा कि पुत्र कभी भी आत्मा नहीं हो सकता। यह बिल्कुल गलत धारणा है कि पुत्र प्रेम के कारण पुत्र को आत्मा कहा जाये। क्योंकि पुत्र के न होते हुए भी तुम भूमि, पात्र और धन आदि को प्रेम की दृष्टि से देखते हो। तुम्हारे अपने शरीर के प्रति पुत्र की अपेक्षा अधिक मात्रा में प्रीति दिखाई देती है। क्योंकि घर में आग लगने से लोग पुत्र को छोड़ कर भाग जाते हैं। शरीर की रक्षा के लिये साधारण लोग अपने पुत्र को भी बेच डालते हैं। यदि पुत्र प्रतिकूल होता है तो लोग उसे मार डालते हैं। अतः पुत्र कभी भी आत्मा नहीं हो सकता। एक दिये से दूसरा दिया जलाने से वह पहले दिये का रूप और गुण वाला होता है, परन्तु पुत्र में पिता के रूप और गुणों आदि का सादृश्य नहीं रहता। क्योंकि स्वस्थ और सुन्दर पिता से विकलांग पुत्र और गुणवान पिता से गुणहीन पुत्र उत्पन्न होते हैं। फिर जिस प्रकार पिता का घर के सभी कार्यों और वस्तुओं पर प्रभुत्व रहता है, उसी प्रकार पुत्र पर प्रभुत्व की सूचना के लिए पुत्र में आत्म शब्द का उपचार गौण रूप में प्रयोग किया जाता है। श्रुति ने कभी किसी भी स्थान पर मुख्य वृत्ति से पुत्र को आत्मा नहीं कहा है। अतः पुत्र में आत्मत्व का जो आरोप है, वह गौण है, मुख्य नहीं। एक मात्र शरीर ही अहंज्ञान का विषय है, पुत्र आदि नहीं।

देहात्मवाद का खंडन

देह ही अहं शब्द वाच्य है अर्थात यह प्रत्यक्ष निश्चय है कि सभी प्राणी देह को "मैं" समझते हैं। **"एषः पुरुषोअन्नरसमयः"**–अर्थात श्रुति में ऐसा प्रमाण है कि यह देह खाद्य सारांश का विकारभूत है। अतः चार्वाक के मत का अवलंबन करने वाले लोगों ने धारणा बनाई है कि श्रुति इस शरीर को पुरुष कहता है, अतः पुरुष ही आत्मा है। यह दृश्यमान शरीर ही आत्मा है। परन्तु सोच विचार कर देखने से सहज ही समझ में आता है कि इन्द्रियों के अधीन यह जड़ शरीर किस प्रकार

आत्मा हो सकता है? यह शरीर इन्द्रियों द्वारा संचालित होकर क्रियाशील होता है। स्वयं किसी में नियुक्त नहीं हो पाता। जिस प्रकार गृह गृहस्थों का आश्रय है, ठीक वैसे ही यह शरीर इन्द्रियों का आश्रय है। यह शरीर बचपन, यौवन आदि विविध अवस्थाओं से युक्त और पिता से शुक्र और माता के रक्त से उत्पन्न है। अतः शरीर कभी भी आत्मा नहीं हो सकता।

इन्द्रियात्मवाद का खंडन

यदि कोई कहता है कि "तब क्या इन्द्रियगण आत्मा है? मैं अंधा हूं, मैं वधिर हूं, मैं मूक हूँ, इस अनुभव के कारण इन्द्रियगण आत्मा हो सकते हैं। क्योंकि इन्द्रियों में विषय का ज्ञान है। **"देहे प्राणाः प्रजापति मेतमेत्येत्युचुः"** इस श्रुति वाक्य के द्वारा इन्द्रियों का आत्मत्व युक्तियुक्त प्रतीत हो सकता है। परन्तु सोचविचार कर देखने से पता चलता है कि इन्द्रियगण आत्मा नहीं हैं। करण समूह कुठार की तरह जड़ वस्तु है। क्योंकि कुठार आदि करणों में कभी भी चैतन्य नहीं दिखाई देता।

श्रुति में जिन इन्द्रियों की उक्ति–प्रत्युक्ति का उल्लेख है, वह प्रत्यक्ष इन्द्रियों की नहीं है, परन्तु उन सभी इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं की उक्तिप्रत्युक्ति का आरोप किया गया मात्र है। श्रुति में कभी भी नहीं बताया गया है कि इन्द्रियों में चैतन्य है। विषय का ज्ञान रहने के बावजूद इन्द्रियों को आत्मा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अचेतन प्रदीप जिस प्रकार विषय का प्रकाश करता है, ठीक वैसे ही जड़ नेत्र आदि इन्द्रियों का भी विषय–प्रकाशकत्व सिद्ध हो सकता है। अतः जड़ इन्द्रिय समूह कभी भी आत्मा नहीं हो सकता।

प्राणात्मवाद का खंडन

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, इन पंचवृत्तियों युक्त मुख्य प्राण, इन्द्रियों के व्यापार का कारण है। बचपन, यौवन आदि सभी अवस्थाओं में अवस्थायुक्त यह प्राण आत्मा हो सकता है। मैं भूखा हूं, मैं

प्यास से आतुर हूं—इस अनुभव के बल पर भी प्राणों को आत्मा कहा जा सकता है। परन्तु सोच विचार कर देखने से प्राणों का भी आत्मत्व सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि, प्राण आत्मा से उत्पन्न वायु मात्र है। जिस प्रकार लोहार की धौंकनी की वायु पुनः-पुनः निकलती है और भीतर प्रवेश करती है, ठीक वैसे ही यह वायु भी शरीर के भीतर प्रवेश करती है और शरीर के बाहर निकलती है। यह हित-अहित, अपना-पराया कुछ नहीं जानती। प्राण अचेतन, चंचल और सदैव क्रियाशील है। अतः प्राण कभी भी आत्मा नहीं हो सकते।

मनात्मवाद का खंडन

सुप्त व्यक्तियों में मन विद्यमान रहता है। प्राणों में ज्ञान की शक्ति नहीं दिखाई देती। पुनः प्राणों में मन रहता है। परन्तु प्राणों का अनुभव नहीं हो पाता। मन सब कुछ जानता है। उसे समस्त विषयों का ज्ञान है, अतः मन ही आत्मा है। "मैं इस प्रकार संकल्प करता हूं, मैं विषय का चिंतन करता हूं।" ऐसा अुनभव रहने के कारण मन को आत्मा के रूप में सोचना युक्ति संगत है। परन्तु सोच-विचार कर देखने से मन भी आत्मा नहीं हो सकता। क्योंकि मन तो चक्षु आदि की तरह एक इन्द्रिय मात्र है, अतः उसका आत्मत्व सिद्ध नहीं हो पाता। करण कर्त्ता के द्वारा कर्म में नियुक्त होता है। स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः जो करण का नियोजक और कर्त्ता उसे ही आत्मा कहना चाहिये। परन्तु आत्मा स्वतंत्र है, उसे पुरुष की संज्ञा दी जाती है। वह कभी भी प्रयुक्त नहीं हो सकती। अतः मन कभी भी आत्मा नहीं।

बुद्ध्यात्मवाद का खंडन

मैं कर्त्ता हूं, मैं भोक्ता हूं मैं सुखी हूं—इस प्रकार का अनुभव करने के कारण बुद्धि को आत्मा कहा जा सकता है। क्योंकि अहंकार बुद्धि का धर्म है। "**विज्ञानां यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपिच**"- यह श्रृति वाक्य बहुत ही स्पष्ट रूप से बुद्धि का कर्त्तृत्व प्रतिपादित करता है। अतः बुद्धि का आत्मत्व युक्ति संगत है। विज्ञानवादी बौद्धगण इस सिद्धांत के

अनुसार प्रभाकर पक्ष के अवलंबियों और नैयायिकों को दोष देते हैं। इनका कहना है, बुद्धि किस प्रकार आत्मा हो सकती है। क्योंकि बुद्धि अज्ञान का कार्य है। बुद्धि प्रतिक्षण में नाशवान है। बुद्धि आदि समस्त वस्तुओं का अज्ञान में लय होता दिखाई देता है। इसलिये "मैं अज्ञ हूं—इस प्रकार नारी से बालक तक सबका अनुभव रहने के कारण अज्ञान ही आत्मा हो सकती है। बुद्धि कभी भी आत्मा नहीं हो सकती। यदि कहो कि अज्ञान का अर्थ है ज्ञान का अभाव, परन्तु आत्मा तो आनन्दमय है। तब अज्ञान और आनन्दमयत्व किस प्रकार एक हो सकेंगे? उसका उत्तर यह है कि आत्मा के आनन्द के बारे में जो बताया जाता है, उसका अर्थ है, दुःख का अभाव। सही अर्थ में मोक्ष अथवा सुषुप्ति में आनन्द नहीं रहता। दुःख के न रहने के कारण आनन्द शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः आनन्द शब्द का अर्थ है दुःख की जानकारी का अभाव। सुषुप्ति के समय बुद्धि आदि समस्त वस्तुएं अज्ञान में लय प्राप्त होती हैं। इसलिये सुषुप्ति के समय दुःखी लोगों में आनन्दमयता रहती है। "मैं कुछ नहीं जानता हूं," यह अनुभव भी सुषुप्ति के समय अनुभूत होता है। अतः अज्ञान का आत्मत्व ही युक्ति संगत है। परन्तु भट्ट मतावलंबी इस प्रकार के सिद्धांत पर दोषारोप करते हैं।

अज्ञानात्मवाद का खंडन

उनका कहना है कि जब ज्ञान की भी उपलब्धि होती है, तब अज्ञान को ही किस प्रकार आत्मा कहा जा सकता है? लोग ज्ञान के अभाव में यह बात किस प्रकार जान सकेंगे कि "मैं अज्ञ हूं। मैं सुख में सोया था, मैं कुछ नहीं जान पाया हूं"-इस प्रकार का अज्ञान विषय का ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों में भी दिखाई देता है। अतः आत्मा जुगनू की तरह चैतन्य और जड़ स्वभाव वाली के रूप में स्वीकृत है। अतः हम लोगों के मत में ज्ञानाज्ञान ही आत्मा है। केवल अज्ञान ही आत्मा नहीं।

ज्ञानाज्ञानात्मवाद का खंडन

परन्तु वस्तु पर विचार करने से पता चलेगा कि आलोक और

अंधकार की तरह ज्ञान और अज्ञान परस्पर विरोधी वस्तुएं हैं। अतः आत्मा किस प्रकार ज्ञानअज्ञानमय होगी। अन्धकार और प्रकाश की तरह अज्ञान और ज्ञान एक स्थान पर नहीं रहते अथवा उन दोनों का संयोग नहीं है अथवा उन दोनों के अधिकार भी एक जैसे नहीं हैं। "मैं नहीं जानता हूं" इस प्रकार के अज्ञान विषयक और भाव–विषयक ज्ञान तथा उनके धर्म की सुषुप्ति के समय उपलब्धि नहीं होती। अन्य जो कुछ प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति* आदि शून्य के रूप में प्रतीत होती है। क्योंकि सुषुप्ति के समय कोई दूसरी वस्तु नहीं थी, मैं भी नहीं था–सुषुप्ति से जागा हुआ व्यक्ति ऐसा स्मरण करता है। अतः शून्य ही आत्मा है। ज्ञान–अज्ञान आत्मा नहीं हो सकते। केवल इतना ही नहीं कि शून्य का आत्मत्व तर्क के द्वारा निश्चित होता है–"**असदेवेदमग्र आसीत**"। इस प्रकार श्रृति वाक्य के द्वारा भी शून्य का आत्मत्व स्पष्ट रूप से निरूपित हुआ है। अतः शून्य को आत्मा कहना चाहिये। पहले घट नहीं था, परन्तु उसके बनते ही वह लोगों का दृष्टिगोचर हुआ। बनने से पहले घट मृदा के भीतर था। बाद में वह बाहर प्रकट होता है–ऐसा सिद्धांत कभी भी नहीं हो सकता। क्योंकि घट मृदा के भीतर ठहर कर बाद में प्रकट नहीं होता। अतः शून्य से ही घट–पट आदि परिदृश्यमान ये सदवस्तुएं उत्पन्न हुई हैं। इसलिए हर दृष्टिकोण से शून्य ही आत्मा हो सकती है।

शून्यात्मवाद का खंडन

परन्तु विवेक और वैराग्य से युक्त, भगवत कृपा प्राप्त तथा सदगुरु के आश्रय प्राप्त महात्माओं ने इस शून्य के भीतर पूर्ण का दिग्दर्शन किया है। उन्होंने शून्यवादियों के सिद्धांत को भी निराश किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार वट वृक्ष, वीज के भीतर अव्यक्त रूप में रहता है, ठीक वैसे ही सुषुप्ति के समय बुद्धि आदि समस्त वस्तुएं अपने

---

*१. **प्रमाता**–प्रमाणकर्त्ता अथवा ज्ञाता

२. **प्रमेय**–प्रमाण का विषय अथवा ज्ञेयवस्तु

३. **प्रमिति**–प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान।

उपादान कारण माया में लीन होकर अविकृत अवस्था में विद्यमान रहती हैं। आत्मा अपने रूप में विद्यमान है। वह कभी भी शून्य के रूप में प्रतीत नहीं होती। जिस प्रकार वट वृक्ष कहीं वीज के रूप में तो कहीं अंकुर के रूप में रहता है, ठीक वैसे ही यह जगत कभी कभी अव्यक्त अर्थात कारण के रूप में तो कभी कभी व्यक्त अर्थात कार्य के रूप में विद्यमान रहता है। पुनः "**असदेवेदमग्र आसीत**"– यह श्रृति वाक्य अपरिवर्तित रूप में जगत की अवस्था और सुषुप्ति के समय उसकी जो भिन्न अवस्था होती है, उसके बारे में बता देता है। अज्ञ लोगों को इस तरह अर्थ की जानकारी न रहने के कारण श्रृति और तर्क द्वारा निरूपित किये गये इस जगत के प्रत्यक्ष को शून्य कहते हैं। असत (अवस्तु) से सत्य (वस्तु) की उत्पत्ति कभी भी न देखी गई है और न सुनी गई है। घोड़े के अंड़े, मनुष्य के सींग और आकाश कुसुम से कोई वस्तु पैदा नहीं हो सकती। और यदि घट मृदा के भीतर अव्यक्त रूप में नहीं रहा होता, तो वह कभी भी मृदा से उत्पन्न नहीं हो पाता। यदि कहो कि वैसा न होते हुए भी उत्पन्न हो सकता है, तो रेत अथवा पानी से भी घट बनता होता। रेत अथवा पानी से तो घट नहीं बनता। अतः जो वस्तु जिस वस्तु से उत्पन्न होती है, उसमें उसका स्वभाव विद्यामान रहता है। जिसमें जिस वस्तु का स्वभाव विद्यामान है, वह उससे उत्पन्न है। इसे अस्वीकार करने से परिणाम विपरीत होता है। अर्थात दूध से घट और मृदा से दूध उत्पन्न होगा। हर समय ही शास्त्र में और हर लोक में कार्य और कारण निश्चित रूप में है। श्रृति और श्रीमदभगवत गीता में असत से सत की उत्पत्ति का निषेध किया गया है। अतः असत से सत की उत्पति नहीं हो सकती। शून्य नामक पदार्थ ही मिथ्या है। अतः असत रूपी शून्य किस प्रकार सत आत्मा हो सकता है।

आत्मा का दिग्दर्शन अथवा आत्मज्ञान

पहले जिस प्रकार बताया गया है विद्वानों ने श्रृति, तर्क और अनुभव से धन–रत्न–पुत्र आदि में से लेकर शून्य तक समस्त पदार्थों का अनात्मतः विशेष रूप से प्रमाणित किया है। महात्मालोग दूसरे प्रमाण के

द्वारा बाधित वस्तु की सत्यता स्वीकार नहीं करते। अतः ऐसा स्पष्ट निर्णय किया गया है कि पुत्र से लेकर शून्य तक समस्त अनात्म पदार्थ हैं। अब बात आती है कि यदि सुषुप्ति के समय समस्त अनात्म पदार्थ कारण में लय प्राप्त होते हैं, तो इस जगत में शून्य के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की उपलब्धि नहीं हो सकती। तब वह आत्मा कौन है? यदि आत्मा का अस्तित्व है, तो उसकी उपलब्धि क्यों नहीं होती? इस बात का क्या प्रमाण है कि सुषुप्ति के समय आत्मा होती है? अहंकार आदि के बाधित होने पर भी आत्मा स्वयं किस कारण बाधित नहीं होती। इन सब प्रश्नों की मीमांसा यह है कि लोग अपनी सुषुप्ति के समय जिस चीज को अनुभव करते हैं, उस से वे उस वस्तु को विद्यमान शून्यभाव कहते हैं। उस समय अज्ञ लोग अपने अस्तित्व को न समझ पा कर केवल शून्यत्व की बात करते हैं। सुषुप्ति के समय अव्यक्त संज्ञा वाले प्रज्ञा के प्रवुद्ध रहने के कारण उसका शून्यत्व साधित नहीं हो पाता। सुषुप्ति के समय विद्यमान शून्य से ज्ञाता को आत्मा समझना होगा। अर्थात शून्यत्ववादियों का कहना है कि सुषुप्ति के समय केवल शून्य ही विद्यमान रहता है। अतः शून्य ही आत्मा है। परन्तु इस अवस्था को जिसने अनुभव किया है कि सुषुप्ति के समय केवल शून्य ही विद्यमान रहता है, कुछ और नहीं रहता, वह शून्य से भिन्न है। अतः शून्य को जो अनुभव करते हैं, उन्हें आत्मा कहा जाता है। केवल शून्य है, मूढ लोग इसलिये कहते हैं क्योंकि उनमें बुद्धि का अभाव है। परन्तु वे अपने में अनुभूति की कमी को नहीं जान पाते। अतः शून्य को जो अनुभव करते हैं, उन्हें आत्मा कहते हैं। दूसरे लोग उस आत्मा को नहीं जान पाते। परन्तु वे सुषुप्तिकालीन धर्म को प्रत्यक्षतः जान पाते हैं। जिन्हें सुषुप्ति के समय बुद्धि आदि के अभाव का ज्ञान रहता है, वही विकार रहित आत्मा है। जिस के तेज से यह दृश्यमान समूचा जगत प्रकाशित होता है, जो सूर्य की तरह स्वयं प्रकाश है; क्या उस आत्मा को प्रकाशित करने वाला कोई और हो सकता है? बुद्धि आदि समस्त वस्तुएं जड़ हैं। और एक मात्र आत्मा ही उन सब को प्रकाशित करती है। जिस प्रकार पृथ्वी में सूर्य का कोई प्रकाशक नहीं

दिखाई देता, ठीक वैसे ही आत्मा का कोई प्रकाशक नहीं है और आत्मा के अतिरिक्त अनुभव करने वाला भी कोई दूसरा नहीं है। जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के समय समस्त वस्तुओं को अनुभव कर सकता है, उस ज्ञाता को फिर जानेगा कौन? जिस प्रकार आग सभी चीजों को जला देती है, परन्तु आग को जलाने वाला कोई नहीं है, ठीक वैसे ही आत्मा सब का ज्ञाता है, आत्मा का ज्ञाता कोई दूसरा नहीं है। क्योंकि आत्मा स्वयं बोद्धा है। अतः उपलब्धि करने वाली किसी दूसरी वस्तु का अभाव रहने के कारण आत्मा किसी दूसरे की जानकारी में नहीं आती। सुषुप्ति के समय बुद्धि, मन, इन्द्रिय, देह आदि के कारण में विलीन होने के परिणामस्वरूप एक मात्र आत्मा ही कुछ नहीं देखती, कुछ नहीं सुनती, अथवा कुछ मनन भी नहीं कर पाती है। इस अवस्था में स्वयं सुषुप्ति कालीन अज्ञान का साक्षी बन कर विकल्प रहित होकर सुख में रहती है। आत्मा में ऐसी प्रत्यभिज्ञा* होती है और हेतु के द्वारा आत्मा का अनुमान होता है कि "मैं" सुखपूर्वक नींद में था। इस प्रकार स्पर्शमान वस्तु के अस्तित्व का पता चलता है। यदि पहले आत्मा को अनुभव नहीं होता तब कभी भी इस विषय का स्मरण नहीं हो पाता। श्रुति में भी सुषुप्ति के समय आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। यदि सुषुप्ति के समय आत्मा विद्यमान नहीं रहती, तो श्रुति में आकामयितृत्व और स्वप्न का अदर्शन आदि संगत नहीं हो पाते। अविद्यमान वस्तु में निषेध नहीं हो पाता। अतः उस समय भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना होगा। इन समस्त प्रमाणों से केवल शुद्ध और सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा का अस्तित्व ज्ञात होकर इस आत्मा को साक्षी के रूप में अवगत किया जाना चाहिए।

---

* **प्रत्यभिज्ञा : आतीत काल के अनुभव के संस्कार के साथ वर्तमान अनुभव को प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। अर्थात कल जिस घट को देखा था, यह तो वही घट है। बाद में जो बताया गया वह प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष है और पहले जो बताया गया वह प्रत्यभिज्ञा संस्कार है।**

आत्मा के स्वरूप का निरूपण

सत्त्व, चित्त्व और आनन्द आत्मा का स्वरूप है। चूंकि निर्गुण आत्मा का गुण–संबंध नहीं रह सकता, इसलिये सत्त्व, चित्त्व और आनन्द आत्मा के गुण नहीं हो सकते। परंतु सत स्वरूपता, ज्ञानरूपता और आनन्दमयता ही आत्मा का लक्षण है। चूंकि वह सदैव स्वरूप में अवस्थित है, इसलिए उसके स्वरूप की प्रच्युति नहीं होती। इसलिये आत्मा को सत्य कहते हैं। ज्ञान रूप में अवस्थित रहने के कारण आत्मा के शुद्ध–चैतन्य लक्षण को चित् स्वरूपता कहते हैं तथा अखण्ड सुख में अवस्थित रहने के कारण उसे आनन्दस्वरूप बताया गया है।

आत्मा के नित्य स्वरूप का निरूपण

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के समय "मैं हूं", इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व जुड़ा हुआ है। अतः इस नित्य आत्मा का कभी भी विनाश नहीं है। मैं था, यह अभिन्न ज्ञान सदैव दिखाई देता है– मैं नहीं था–ऐसा ज्ञान कभी भी नहीं होता है। अतः आत्मा का अस्तित्व तर्क सिद्ध है। गंगा में आने वाली तरंगों में जिस प्रकार जल आवृत्त है, ठीक वैसे ही बचपन, किशोरावस्था, यौवन, प्रौढ़ और वृद्धावस्था तथा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में और दिखाई देने वाले तथा दिखाई न देने वाले वृत्ति समूह में आत्मा का अस्तित्व अनुगत रहता है। "मैं इसका अनुष्ठान करता हूं, मैं देखता हूं", इस प्रकार साक्षी की एकरूपता सदैव कायम रहती है। प्रत्येक वस्तु में अहंकार आदि वृत्तियां पृथक–पृथक होती है अर्थात विषयों के भेद से अहंकार भिन्न–भिन्न होते हैं। प्रतिक्षण उनमें परिवर्तन होते रहने के कारण वे विकारी हैं। आत्मा का किसी प्रकार का अंश न रहने के कारण वह अपरिणामी है। अतः आत्मा अविकारी है। अतः नित्य है। जो "मैं" स्वप्न देख रहा था, जो "मै" सुखपूर्वक नींद में सोया था, थोड़ी देर बाद वह "मैं" प्रबुद्ध हुआ–इस प्रकार अक्षुण्ण रूप से आत्मा की सत्ता अनुभूत होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। श्रुति शास्त्र में आत्मा के मान आदि सोलह कलाओं अथवा विकारों का उल्लेख है। वह चित्त आभास अर्थात

प्रतिविंबित चैतन्य का विकार है, आत्मा का विकार नहीं। आत्मा निष्कंलक अर्थात अंश रहित है, इसलिये वह कभी भी लयप्राप्त नहीं होती। अतः आत्मा का नित्यत्व सिद्ध हुआ।

आत्मा के ज्ञानस्वरूप का निरूपण

घट आदि जड़ वस्तुओं का प्रकाशक सूर्य प्रकाश स्वरूप है, वह अचेतन नहीं। अतः बुद्धि आदि की प्रकाशक चैतन्य रूपी आत्मा भी जड़ नहीं है। जिस प्रकार दीवार आदि अचेतन वस्तुओं का स्वभावतया प्रकाश नहीं है, वह सब सूर्य आदि की किरणों के अतिरिक्त कभी भी कहीं पर दिखाई नहीं देती, ठीक वैसे ही आत्मा के बिना बुद्धि आदि जरा सी भी प्रकाशित नहीं होती। जिस प्रकार सूर्य प्रकाश स्वरूप है, ठीक वैसे ही श्रुति में आत्मा को केवल ज्ञान स्वरूप के रूप में स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार सूर्य स्वप्रकाश से अथवा दूसरी वस्तुओं के प्रकाश में किसी अन्य प्रकाशक की अपेक्षा नहीं रखता, ठीक वैसे ही चैतन्य रूपी आत्मा अपने वोधन में अथवा अहंकार आदि के वोधन में किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखती। क्योंकि आत्मा किसी दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा न रख कर स्व–स्वरूप से प्रकाशित होती है, इसलिये स्वयं प्रकाश वह चिदात्मा अपने ज्ञान के लिए दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखती। सूर्य, चन्द्र और बिजली जिसे प्रकाशित नहीं कर पाती, उस अवस्था में कम तेज वाली आग की बात क्या करें? उस प्रकाश रूपी आत्मा को लक्ष्य कर के यह समूचा जगत प्रकाशित हुआ है। सब अवस्थाओं में वही एक आत्मा विराजमान है। अतः आत्मा का ज्ञान स्वरूप नित्य सिद्ध है।

आत्मा के आनन्द स्वरूप का निरूपण

जो नित्य और ज्ञान स्वरूप है वह अवश्य ही आनन्दमय है। सुख का अभाव होना ही दुःख है। सुख का अनन्त रूप ही नित्यानन्द है। इस जगत में सुख का जो परिचय मिलता है, वह सुख स्पष्ट रूप में अनन्त होते ही नित्यानन्दमय हो जाता है। अतः श्रेष्ठ ऋषि सनत कुमार ने आत्मा को आनन्द स्वरूप के रूप में स्थिर किया है। अत्यंत प्रीति देने

वाली अर्थात प्रीति का स्थान होने के कारण आत्मा को आनन्द स्वरूप कहा जाता है। रोग और शोक से ग्रस्त दीन–दुखी लोग भी मरना नहीं चाहते। क्योंकि आत्मा सब के लिए सर्वापेक्षा प्रिय है। पत्नी, पुत्र, धन, रत्न आदि प्रिय नहीं होते। वे केवल आत्मा के लिए प्रिय के रूप में प्रतीत होते हैं। जाग्रत और स्वप्नावस्था में अन्तःकरण समूह, इन्द्रिय समूह और देह के विद्यमान रहने के कारण उनसे पहले विद्यमान रहने वाली आत्मा, ज्ञान सुषुप्ति के समय दुखमय इन्द्रियों और अन्तःकरणों आदि के कारण में लयप्राप्त होने से आनन्दस्वरूप आत्मा प्रकाशित होती है। अतः सुषुप्ति से जागते ही सब लोग आनन्द स्वरूपत्व के रूप में आत्मा की प्रत्याभिज्ञा करते हैं अर्थात "मैं" सुख पूर्वक नींद में सोया था" इस अनुभव के कारण आत्मा का आनन्दस्वरूप सिद्ध होता है। समस्त प्राणी ब्रह्म से अपनी अपनी उपाधि के अनुरूप उस आत्मा के आनन्द अंश का अवलंबन लेते हैं। खाद्य वस्तुओं में सुखजनक जिस मधुर रस का आस्वादन किया जाता है, वही शर्करा की मधुरता है, किसी अन्य वस्तु की मधुरता नहीं। ठीक वैसे ही विषय के सान्निध्य के कारण जो आनन्द अनुभूत होता है, वह विम्बभूत आत्मा का स्फुरण मात्र है, किसी अचेतन वस्तु का स्फुरण नहीं। जिस किसी स्थान पर जिस किसी वस्तु के संयोग से जो आन्नद होता है, वही आत्मा की स्फुर्ति रूपी आनन्द है। जो लोग आनन्द शब्द का अर्थ दुःख का अभाव मानते हैं, वे भ्रांत हैं। क्योंकि लोष्ट्र आदि में दुःख का अभाव रहता है। परन्तु उसमें आनन्द अनुभूत नहीं होता। परन्तु किसी भी समय किसी में आत्मप्रीति का अभाव नहीं दिखाई देता। अतः आत्मा सही अर्थ में आनन्द स्वरूप है। इसी कारण श्रृति में आत्मा को सतस्वरूप और आनन्द स्वरूप के रूप में बताया गया है। विद्वान, श्रेष्ठ साधु और ब्रह्मज्ञ महात्मागण समाधि के समय प्रत्यक्ष रूप में केवल सच्चिदानन्द रूपी आत्मा को अनुभव करते हैं।

आत्मा के अद्वितीयत्व का निरूपण

सच्चिदानन्द आत्मा का स्वरूप है, वह उसका गुण नहीं है। जिस प्रकार उष्णता और प्रकाश अग्नि का स्वरूप है, ठीक वैस ही सत् चित

और आनन्द आत्मा का स्वरूप है, यह निश्चित है। अतः आत्मा में सजातीय, विजातीय भेद नहीं हैं। "एकमेवाद्वितीयम्" यह श्रृति वाक्य त्रिविध भेदशून्यता का परिचायक है। आत्मा कैसी है? एक अर्थात स्वगत भेद से रहित है। "एव" अर्थात स्वनातीय भेद से रहित है और "अद्वितीयम" अर्थात विजातीय भेद से रहित है। अतः स्वगत, स्वजातीय और विजातीय भेदों से रहित परम पदार्थ ही आत्मा कहलाती है। यह आत्मा अनादि और अनन्त है। अनन्त वस्तु की सत्ता स्वीकार्य है। उसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता स्वीकार्य नहीं है। जो वस्तु अनन्त है, वह सर्वत्र व्याप्त है। जो अनन्त के रूप में सर्वव्यापी है, उसके अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करने से अनन्तवस्तु का सर्वव्यापित्व नहीं रहता। जो वस्तु अनन्त है, उसमें सभी वस्तुएं रहती हैं।

यदि यह प्रमाण के योग्य और सत्य है, तब इस परिदृश्यमान जगत की स्वतंत्र सत्ता असत्य है। फिर जगत अनन्त सत्ता से भिन्न किस प्रकार होगा। यदि कहो कि जगत स्वतंत्र वस्तु है तब कहना होगा, आत्मा अनन्त नहीं है। तब यह स्वीकार करना होगा कि जगत आत्मा में ही रहता है। एक और अद्वितीय आत्मा ही विश्वव्यापी होकर समस्त वस्तुओं में ओतप्रोत होकर रहती है–किसी भी प्रकार से इस तर्क का खंडन नहीं किया जा सकता। जो लोग कहते हैं कि आत्मा सर्वव्यापी, परन्तु जगत उस आत्मा से स्वतंत्र और भिन्न वस्तु है, वे सही अर्थ में आत्मा के अनन्त सत्ता के अस्तित्व और सर्वव्यापकता को स्वीकार नहीं करते। जिस समय कहा गया कि आत्मा सर्वव्यापी और अनन्त है, उस समय जगत की स्वतंत्र सत्ता को अस्वीकार किया गया। यदि आत्मा अनन्त है, तो यह बात अवश्य ही स्वीकार करनी होगी कि यह जगत और ब्रह्माण्ड उस आत्मा का शरीर और रूप है। वह अनन्त विश्व में वस्तु के रूप में रहती है और यह अनन्त विश्व उसमें रहती है। फिर जो अनन्त है, वह निश्चय ही अनादि है। जिस का आदि है, उसकी सीमा और शेष है परन्तु अनन्त का न कोई आदि है न अन्त है। अतः आत्मा अनादि है। वह अनन्त देश और अनन्त काल में सृष्टि–स्थिति–प्रलय के रूप में ओत प्रोत जुड़ी हुई

है। जो स्वयं अनन्त, उसका रूप भी अनन्त है। तब कारण क्या है कि यह विश्व हमें खंडित होकर आवृत रूप में दिखाई देता है। विज्ञान नेत्र के अभाव में ऐसा दिखाई देता है। स्थूल दृष्टि में अनन्त की प्रतीति नहीं होती। बाह्यविज्ञान उस अनन्त का आभास मात्र है, परन्तु अध्यात्म विज्ञान में मानव की अन्तर्दृष्टि खुल जाती है और उस अनन्त दृष्टि में पूर्ण दृष्टि उत्पन्न होने से अनन्त की पूर्णप्रतीति होती है और वह दिखाई देता है। वेद–विदान्त ने उस आध्यात्म विज्ञान को प्रकाशित करके मानव को नूतन नेत्र दिया है। इसे ज्ञानयक्षु या दिव्यनेत्र कहते हैं। सदगुरु की कृपा से यह ज्ञाननेत्र खुल जाने से मनुष्य अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख में पहुंचता है और अनुभव करता है कि जिस प्रकार आकाश इस चराचर वस्तुओं के भीतर और बाहर रहकर समूचे पदार्थों के आधार के रूप में प्रकाशित होता है, ठीक वैसे ही स्वरूपतः इस विश्व ब्रह्माण्ड की साक्षी रूपी जो आत्मा है, वही सत्ता के रूप में इसके भीतर और बाहर साक्षी के रूप में रहती है। वह सत्ता के रूप में इसके भीतर और बाहर रहकर समूचे ब्रह्माण्ड के आधार के रूप में प्रकाशित हुई है। अतः **सच्चिदानन्द रूपी आत्मा अनादि, अनन्त और अद्वितीय** है।

अद्वैतवाद की श्रेष्ठता और वेदान्त का तात्पर्य

पृथ्वी में जितने धर्ममत प्रचलित हैं, उनमें अद्वैतवाद का स्थान सब से ऊँचा है। समस्त मतवाद ही अद्वैतवाद की शीतल छांव में आश्रित है। सभी उस अद्वैतवाद की सेवा में युक्त है। समस्त वेदान्त शास्त्रों की पर्यालोचना करने से यह बात सहज ही बोधगम्य होती है कि वेदान्त का तात्पर्य अद्वैतवाद से ही है। तब जो द्वैत की सत्य के रूप में विवेचना करके दूसरों को तदनुसार उपदेश देते हैं, उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। क्योंकि अद्वैत तत्त्व के बारे में जानना बहुत ही कठिन है। वह तत्त्व एकदम से सर्वसाधारण को बोधगम्य नहीं हो पाता। अतः प्राथमिक साधकों के लिए द्वैतमत का ही अवलंबन लेना चाहिये। जिस प्रकार बच्चा निर्मल आकाश में मलिनता की कल्पना करता है, ठीक वैसे ही

भेदवादीगण उस अद्वैत परमात्मा से जीव और प्रपंच के सत्यभेद की कल्पना करते हैं। परन्तु यदि वे द्वैतपक्ष को ग्रहण करके कर्मानुष्ठान करते हैं, तब वे किसी न किसी दिन अद्वैत का माहात्म्य हृदयंगम करने में सक्षम हो सकेंगे। अनेक प्राचीन युगों से अद्वैतवाद का प्रचलन रहने पर भी वेद का विभाजन करने वाले और वेदान्त सूत्र तथा पुराणों आदि के प्रणेता जगदगुरु व्यासदेव को ही अद्वैतवादी कहना होगा। भगवान गौड़पाद उस मत को समृद्ध करने वाले हैं। भगवतपाद शंकराचार्य ने उसका मात्र बहुल प्रचार किया है। यही अद्वैतज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। यह मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। **''तत्त्वज्ञानान्निः श्रेय साधिगमः''** इस सूत्र में भगवान अक्षपाद ने भी ज्ञान को मोक्ष का उपाय कहा है। जगदगुरु शंकराचार्य ने इस तत्त्वज्ञान के उपदेश का प्रचार करके मुक्ति का पथ प्रशस्त किया है।

वेद के कर्मकाण्ड का तात्पर्य कर्म में रहने पर भी ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत वेदान्त का तात्पर्य अद्वैत ब्रह्म में समाप्त हुआ है। समस्त वेदान्त वाक्य अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने के लिए उत्सुक है। विवेक और वैराग्य संपन्न श्रीगुरु और श्री भगवान की कृपा प्राप्त नहीं होने से इस बात को धारण करना संभव नहीं होता कि आत्मा एक, अद्वितीय, नित्य तथा समस्त वस्तुओं का आधार है। सही अर्थ में आत्मा एक है, वह अनेक नहीं। एक आत्मा मन की अनेकता से विभिन्न रूपों में प्रकाशित होती है। **अतः जीव असंख्य हैं, आत्मा असंख्य नहीं**। मात्र एक आत्मा शरीरों के भेद से विभिन्न शरीरों में भेद प्राप्त होकर विराजमान है। जिस प्रकार एक दिये को जलाने या बुझाने से दूसरा दिया जलता या बुझता नहीं है, ठीक वैसे ही एक के बंधन या मोक्ष से दूसरे का बंधन या मोक्ष नहीं होता। मन प्रत्येक शरीर में भिन्न–भिन्न प्रकार का है। अतः सुख, दुख, शोक, संताप; जन्म, मृत्यु आदि भिन्न–भिन्न प्रकार के हैं। अतः आत्मा एक एवं अद्वितीय है–इस अद्वैत वैदिक मत का विरोध कतई नहीं किया जा सकता है।

आत्मज्ञान का उपाय और उसका फल

जिस प्रकार लकड़ी में आग, फूलों में खुशबू और दूध में घी रहता

है, ठीक वैसे ही आत्मा शरीर में अन्तर्निहित रूप में विद्यमान है। जिस प्रकार दूध को बिलोने से उससे मक्खन निकलता है, ठीक वैसे ही साधना के द्वारा आत्मदर्शन किये जाते हैं। लकड़ी को बेधने से जिस प्रकार उसमें छिपी आग नहीं दिखाई देती, ठीक वैसे ही शरीर को छेदने से भी उसमें आत्मदर्शन नहीं हो पाता। जिस प्रकार उचित तरीके से लकड़ी का घर्षण करने से उसके भीतर छिपी आग निकलती है और उसे देखा जा सकता है, ठीक वैसे ही प्रयत्नशील विशुद्ध चित्त योगीगण ध्यान के द्वारा आत्मा को देह में निर्लिप्त भाव में रहते देख पाते हैं। परन्तु जिन लोगों का चित्त शुद्ध नहीं है, जो मन्दमति है'', उनके शास्त्रों आदि के अभ्यास से सैंकड़ों चेष्टाएं करने पर भी वे आत्मदर्शन नहीं कर पाते। अध्यात्म–योग की साधना से ज्ञान नेत्र प्राप्त होता है। जिनमें वह ज्ञान नेत्र नहीं है, वे स्वाभाविक रूप से जड़वादी अथवा देहात्मवादी बन जाते हैं। जिन्हें ज्ञान नेत्र संपन्न साधुओं के उपदेशवाणी पर विश्वास है, उन्हें कुछ सीमा तक आत्मज्ञान प्राप्त होता है और उनमें आत्मा के प्रति विश्वास होता है, अन्यथा सामान्य व्यावहारिक बुद्धि से वाक–वितंडा कर के व्यर्थ से चक्कर काटना ही सार होता है।

अतः यहां तक यह बात सिद्ध हुई कि धन, रत्न अथवा पत्नी, पुत्र और देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अज्ञान, ज्ञानाज्ञान और शून्य, ये सब आत्मा नहीं हैं। इनके अतिरिक्त साक्षीचैतन्य ही आत्मा है। वह आत्मा सत्, चित् और आनन्दस्वरूप तथा एक एवं अद्वितीय है। आत्मा और अनात्मा के बारे में विवेक ज्ञान न रहने के कारण जीव बंधन दशा में पहुंचता है। अतः साधु व्यक्ति आत्मानात्म विवेक से आत्मा का निरूपण करके आत्मनिष्ठ बनकर रहेंगे। सदैव ऐसा अभ्यास करते रहने से आत्मा का स्वरूप दर्शन होता है और आत्मा तथा अनात्मा का भेद बोध गम्य होता है। जिस समय अनात्मा आत्मा के पास और महत और अहंकार के रूप में नहीं बदलती, वह चित स्वरूप आत्मा की किसी भी प्रकार की आत्म विकृति नहीं दिखा पाती। अनात्मा और आत्मा का विकार आत्म चैतन्य में प्रदीप्त अथवा प्रतिबिंबित नहीं होता और आत्मा जिस समय

साक्षी रूप में मात्र चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, उसमें विकार नहीं दिखाई देता। उस समय ही जीव को मुक्ति की प्राप्ति होती है। जितने दिनों तक विवेक से आत्म भ्रम की निवृत्ति नहीं हुई होगी, उतने दिनों तक सावधानी से साधना और भजन का अभ्यास करना चाहिये। अपनी बुद्धि से विचार और निदिध्यासन करके स्पष्ट, अद्वैत, अक्षर परम, नित्यानन्द स्वरूप से साक्षात करके जीवन्मुक्त, विश्रांत और शांति प्राप्त करो। तुम अनात्मा गुणों से पूरी तरह आवृत्त होकर स्वयं को समस्त क्रियाकलापों के कर्त्ता के रूप में अभिमान कर रहे हो। परन्तु सही अर्थ में तुम निष्क्रिय, निर्विकल्प, उदासीन और सतस्वरूप आत्मा हो। जिस प्रकार आग उतप्त लौह पिंड के भीतर और बाहर व्याप्त होकर उसे प्रकाशित करने के साथ–साथ स्वंय भी प्रकाशित होती है, ठीक वैसे ही तुम्हारी आत्मा समस्त वस्तुओं के भीतर और बाहर व्याप्त होकर अखिल संसार को एकासन करके स्वयं प्रकाशित हुई है।

सर्व भूतस्थ मात्मानं सर्व भूतानिचात्मनि
इक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः
सर्व भूतेषु चात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि
संपश्यन ब्रह्म परम याति नान्येन हेतुना।

इसका भावार्थ यह है कि जो व्यक्ति ब्रह्म से लेकर स्थावर तक समस्त भूतों में आत्मा को और आत्मा में समस्त भूतों का दर्शन करते हैं, वे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं। अतः मुक्ति का एक मात्र कारण भूत संबंधी ज्ञान की प्राप्ति के लिये एकाग्र चित्त से आत्मानात्म विचार के द्वारा आत्मनिष्ठ बनाना पड़ेगा। मुमुक्षु व्यक्तियों के लिये आत्मानात्म विवेक ही एक मात्र साधना है।

आत्मा वस्त्वेकं ब्रह्म तद्व्यतिरिक्तं सर्वमनात्मा।

महावाक्य विवेक

तत्त्व विचार

यह बात निर्दिष्ट हुई है कि वैराग्य आदि साधन--चतुष्टय की साधना करके वेदान्त वाक्य पर विचार करना ही मुख्य और अपरोक्ष रूप में ब्रह्मज्ञान का कारण है। वेदान्त शास्त्र के तात्पर्य की पर्यालोचना करने से उचित ज्ञान प्राप्त होता है। उस ज्ञान से अत्यधिक संसार–दुख दूर होता है। अर्थात श्रद्धा और भक्ति के साथ गुरुवाक्य पर विश्वास करके ध्यान निष्ठ चित्त से विचार करने से ज्ञान का उदय होता है और वही ज्ञान मुक्ति का कारण होता है। अतः भक्ति और श्रद्धा के साथ नियमित रूप से तत्त्व विचार करना चाहिये। अब देखना होगा कि किस प्रकार श्रद्धा और भक्ति के साथ तत्त्व विचार करना होता है। मैं कौन हूं और क्या हूं, यह अखिल ब्रह्माण्ड भी क्या है, बंधन क्या है, वह किस प्रकार उपस्थित होता है, आत्मा क्या है, अनात्मा किसे कहते हैं, जीवात्मा और परमात्मा के भेद पर किस प्रकार विचार करना होता है। ऐसे प्रश्न स्वतः ही मन में उठते हैं। विचार के द्वारा इन समस्त प्रश्नों की मीमांसा करने को तत्त्व विचार कहते हैं।

तत्त्व निरूपण

उपर्युक्त विचार से चिरकाल से व्याप्त संसार रूपी लंबी बीमारी की पूर्णतया निवृत्ति होती है। मैं कौन हूं और यह संसार किसका है? ऐसे विचार में प्रवृत्त होने से अज्ञान से उत्पन्न यह संसार यथासमय लय प्राप्त होता है।

क्योंकि विचार में प्रवृत्त होने से समझ सकोगे कि तुम जो हो वह नहीं हो और जगत प्रपंच के रूप में तुम जो कुछ देख रहे हो, इससे तुम्हारा कोई संबंध नहीं है। तुम वही सतस्वरूप परमात्मा हो। तुम केवल माया के द्वारा पूरी तरह आछन्न होकर इस तरह बने हुए हो। तुम प्रकृति के गुणों से पूरी तरह आछन्न होकर ''अहं'' ज्ञान से स्वयं को समस्त

क्रियाकलापों के कर्त्ता के रूप में अभिमान पाल रहे हो। तुम सही अर्थ में निर्लिप्त, निष्क्रिय, निर्विकल्प, निरंजन और सतस्वरूप तत्त्वमसि हो अर्थात तुम्हीं वह ब्रह्म हो।

जीव और ईश्वर

''तत्त्वमसि'' वाक्य के द्वारा आत्मा को प्रमाणित किया गया और ''नेति–नेति'' अर्थात ''यह नहीं, वह नहीं–इस वाक्य के द्वारा इस मिथ्याभूत पंचभौतिक जगत को निराश करके श्रुति के समस्त वाक्यों में एक और परिशुद्ध आत्मा को ही प्रमाणित किया गया। अतः मैं ब्रह्म हूं और वह ब्रह्म ही ''मैं'' हूं, इसमें कोई भी संशय नहीं है। एक और अद्वितीय ब्रह्म के कार्य–कारण के लिए जीव और ईश्वर के भेद से दो तरह की उपाधियां दी गई हैं। कारण–भाव के लिए अन्तर्यामी ईश्वर की उपाधि और कार्य–भाव के लिए अहं शब्दवाच्य जीव की उपाधि दी गई है। ब्रह्म के अद्वैत होने पर भी कार्य–कारण भाव के लिए वे द्वैत के रूप में प्रतीत होते हैं। तत्त्व विचार के द्वारा जीव और ईश्वर रूपी उपाधि नष्ट होने से केवल शुद्ध–चैतन्य मात्र अवशिष्ट रहता है। वह अवशिष्ट शुद्ध चैतन्य ही अद्वैत ब्रह्म है। इस प्रकार से अद्वैत ब्रह्मज्ञान प्राप्त होते ही संसार के बंधन से मुक्ति मिलती है।

अब विचार करेंगे कि यदि ''मैं'' ब्रह्म हुआ, तब मैं सक्रिय और जीव के रूप में स्थित हूँ, फिर ब्रह्म निष्क्रिय और सत्स्वरूप में स्थित है–इस तरह एक दूसरे के बीच विरोधाभास क्यों दिखाई देता है? इसका उत्तर यह है कि जीवात्मा और परमात्मा का विरोध केवल उपाधि के लिए है। परन्तु सही अर्थ में उनके बीच कोई विरोध नहीं है। जीवात्मा और परमात्मा के बीच यह जो विरोध है, वह केवल उपाधि के द्वारा कल्पित होता है। महत् आदि का कारण माया ईश्वर की उपाधि है और अविद्या का कार्य पंचकोष की उपाधि है। माया और पंचकोष, इन दोनों का निराकरण होने से ईश्वर और जीव के रूप में जो दो उपाधियां हैं, उनका भी पूर्णतया निराकरण होता है। जिस प्रकार राज्य के लिए राजा और गदा के लिए योद्धा की उपाधि होती है, परन्तु राज्य और गदा से रहित

होने से राजा और योद्धा, दोनों बराबर हो जाते हैं, ठीक वैसे ही ईश्वर और जीव वाली उपाधियाँ दूर होने से दोनों बराबर हो जाते हैं अर्थात एक मात्र ब्रह्म रहते हैं।

अब विचार करेंगे कि किस उपाय से इन उपाधियों का निराकरण करके सतस्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन किया जायेगा। वेदान्त शास्त्रों में इस बात का उल्लेख है कि अध्यारोप और अपवाद न्याय के द्वारा उपाधियों का निरसन और संबंधत्रय के द्वारा तत्त्वमसि वाक्य की एकता प्रमाणित की गई है।"तत्त्वमसि" अर्थात तुम्हीं वही ब्रह्म हो–इस श्रुति वाक्य के द्वारा परमात्मा और जीवात्मा की अभिन्नता प्रतिपादन करते जाने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के साथ विरोध होता है। अतः वाच्यार्थ* की उपायोगिता नहीं रहती। इसी कारण से तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ में लक्ष्यार्थ** के द्वारा एकता स्थापित होती है। परन्तु उससे पहले तत्त्वमसिः वाक्य पर विचार करने का अधिकारी कौन है, अब उस पर विचार करेंगे।

तत्त्वमसि विचार की पात्रता का निरूपण

तत्त्व पर विचार करना सहज नहीं है। सच्चा अधिकारी नहीं होने से तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। आहार शुद्धि, त्रिविध संघात शुद्धि, देश, काल और सत पात्र आदि की प्राप्ति, संकल्प त्याग, इन्द्रिय संयम और गुरु सेवा के द्वारा यह अधिकार प्राप्त होता है। इन्द्रिय वर्ग और अन्तःकरण के चपलता–वृत्ति त्याग कर के स्थिर भाव धारण न करने से ज्ञान कभी भी प्रकाश नहीं हो पाता। जिस प्रकार तालाब का पानी स्थिर रहने से उस पर पड़ने वाला प्रतिविम्ब स्पष्ट दिखाई देता है, ठीक वैसे ही दुर्वृत्त इन्द्रियों के स्थिर भाव धारण करने से ही ज्ञान के द्वारा ज्ञेय वस्तु को स्थायी रूप से दर्शन किया जाता है। जो असत चरित्र से विरत नहीं हुए हैं, जो शांत और एकाग्र चित्त वाले नहीं बने हैं, वे केवल प्रज्ञा द्वारा ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। जो श्रद्धा और भक्ति के साथ विहित कर्मों के द्वारा ईश्वर को सन्तुष्ट करके जन्म जन्मान्तर में ईश्वरानुग्रह के द्वारा माहात्म्य का अर्जन करके नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक प्राप्त करता है, जो व्यक्ति इहलोक और परलोक में वैराग्य

और शम दम आदि गुण संपन्न होते हैं। उसी प्रकार के सन्यासी ही तत्त्वमसि महावाक्य पर विचार करने के मुख्य अधिकारी है। उन सदगुरु से तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ ज्ञात होकर उसी क्षण वह ब्रह्म ही "मैं" ऐसा परम अखंडाकार चित्तवृत्ति का उदय होता है। अन्यान्य अधिकारियों में जब तक प्रमाणगत सन्देह की निवृत्ति नहीं होती, उन्हें तब तक यत्नपूर्वक सदैव श्रवण करना चाहिये। जब तक प्रमेयगत सन्देह की निवृत्ति नहीं हुई, तब तक श्रुति और उसके अनुकूल तर्कों द्वारा आत्मा का यथार्थ स्वरूप का निर्णय करने के लिए पुनः पुनः मनन करना चाहिये। मनन के द्वारा प्रपंच के दूर होने पर भी जब तक प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा वह विलय प्राप्त नहीं होता, तब तक अच्छी तरह निदिध्यासन करना चाहिये।

अध्यारोप न्याय

अतः सच्चे अधिकारी के द्वारा तत्त्वमसि अर्थ का श्रवण, मनन और निदिध्यासन का अभ्यास करने पर तत्त्व ज्ञान का उद्‌भव होता है। तत्त्वमसि विचार के द्वारा जीव और ब्रह्म के एकता–साधन करके पहले जीवात्मा और परमात्मा की उपाधियों का निराकरण करना होगा। अध्यारोप और अपवाद न्याय के द्वारा उपाधियों का निराकरण किया जाता है। रस्सी कभी सांप नहीं है, तथापि उस रस्सी में सांप का भ्रम होता है। ठीक वैसे ही वस्तु में अवस्तु का भ्रम होने की तरह जो अज्ञान है, उसका नाम अध्यारोप है। अर्थात वस्तु में अवस्तु का जो ज्ञान है, जैसे रस्सी में सांप का जो ज्ञान होता है, वही अध्यारोप है। ऐसे स्थल पर सद्‌वस्तु ब्रह्म में असद वस्तु जगत का जो ज्ञान है, उसका नाम अध्यारोप है। जो वस्तु नहीं है उसे अवस्तु और जो है उसको वस्तु कहा जाता है। उदाहरण के तौर पर जिस प्रकार सांप नहीं है, अतः सांप अवस्तु है और रस्सी है, अतः रस्सी ही वस्तु है। ठीक वैसे ही जगत नहीं है, अतः वह अवस्तु है और ब्रह्म ही विद्यमान है, अतः ब्रह्म ही वस्तु है। अतः जो वस्तु नहीं है, उस वस्तु पर जो वस्तु विद्यमान है, उसका उस पर आरोप करने का नाम अध्यारोप है। उदाहरण के तौर पर जगत नहीं है और ब्रह्म है।

अतः सदवस्तु ब्रह्म पर असदवस्तु जगत का अरोप किया गया है।

अपवाद-न्याय

रस्सी में सांप का भ्रम होने पर जिस समय वह भ्रम दूर हो जाता है, उस समय जिस प्रकार सांप का ज्ञान मिट कर केवल रस्सी का ही ज्ञान रहता है, ठीक वैसे ही ब्रह्मवस्तु में अवस्तु रूपी अज्ञान से उत्पन्न जड़ प्रपंच का जो ज्ञान है, उसके मिट जाने पर ब्रह्म मात्र ही अवशिष्ट रहता है। इसे अपवाद कहा जाता है। अतः ब्रह्म पर अध्यारोपित ब्रह्माण्ड अथवा जीवेश्वर की उपाधियों का अपवाद न्याय के द्वारा निरसन करके संबंधत्रय के द्वारा तत्त्वमसि वाक्य की एकता करनी होगी। संबंधत्रय कहने से समानाधिकरण संबंध, संज्ञा–विशेषण संबंध और लक्ष्य–लक्षण संबंध को समझाता है। उपर्युक्त संबंधत्रय के द्वारा तत्त्वमसि वाक्य की एकता की जाती है।

समानाधिकरण सम्बन्ध

समान–विभक्ति के अन्त में स्थित दो शब्दों की एकाधिकरण में स्थिति का नाम समाधिकरण है अथवा दोनों शब्दों के अर्थ पृथक–पृथक होने पर भी जो एक मात्र वस्तु को समझाता है, उसका नाम समानाधिकरण है। जिस प्रकार वह योगानन्द ही यह व्यक्ति है अथवा यही व्यक्ति योगानन्द है। यह बात केवल योगानन्द को लक्ष्य करके कही गई है। क्योंकि पूर्वपरिचित व्यक्ति योगानन्द का बोध कराने वाला "वही" शब्द और इस समय के योगानन्द का बोध कराने वाला "यही शब्द" –इन दोनों शब्दों के अर्थ का तात्पर्य केवल एक व्यक्ति को ही समझाता है। तत्त्वमसि वाक्य में समानाधिकरण का प्रयोग करने से तत् और त्वं शब्दों के तात्पर्य के लिये एक मात्र ब्रह्म को ही समझाता है। तत्त्वमसि वाक्य में तत–त्वं–असि, ये तीन शब्द विद्यमान हैं। पहले ही बताया गया है कि तत के अर्थ से तत पदार्थ और त्वं पदार्थ की उपयोगिता नहीं है। इस में लक्षणा–वृत्ति से उत्पन्न अर्थ को ग्रहण करना होगा। अतः तत् शब्द

का अर्थ यह है कि जगत का उपादान कारण और तमोगुण प्रधान और निमित्त कारण और विशुद्ध सत्व प्रधान जो माया है, उसकी उपाधि वाला ईश्वर (सगुण ब्रह्म) है फिर देह–इन्द्रिय आदि और अन्यान्य धर्मों और गुणों को निर्गुण आत्मा में आरोप करके जिसमें कर्त्तृत्व का अभिमान होता है, वही त्वं शब्द का अर्थ है।

तत् और त्वं शब्दों का लक्ष्यार्थ

उपर्युक्त वाच्यार्थ को त्याग करके लक्ष्यार्थ को ग्रहण करना होगा। वेदान्त वाक्य में कथित, विश्वातीत, अक्षर, अद्वय, जो विशुद्ध तथा स्वयं समझने योग्य है, वहीं तत् शब्द का लक्ष्यार्थ है और जो स्वयं बोध स्वरूप देह और इन्द्रियों आदि के साक्षी और समस्त रूपों और प्रपंचों से भिन्न हैं, वही त्वं शब्द का लक्ष्यार्थ है। अर्थात नाम और रूप आदि से रहित एक मात्र अद्वितीय ब्रह्म चैतन्य तत् शब्द का लक्ष्य है। और जीवों के अन्तःकरण में स्थित साक्षी रूपी कुटस्थ चैतन्य ही त्वं शब्द का लक्ष्य है जहां पर वाच्यार्थ उत्पन्न नहीं होता, वहां पर लक्ष्यार्थ को स्वीकार करना होगा। अतः तत् शब्द के लक्ष्यार्थ से अप्रत्यक्ष ब्रह्म चैतन्य और त्वं शब्द के लक्ष्यार्थ से प्रत्यक्ष जीव चैतन्य को समझाता है। फिर "असि" का अर्थ है "वही तुम हो" अर्थात अप्रत्यक्ष ब्रह्म चैतन्य का वोध कराने वाला जो तत् शब्द और प्रत्यक्ष जीव चैतन्य का बोध कराने वाला जो त्वं शब्द–इन दोनों शब्द के तात्पर्य–अर्थ का बोध कराने वाला एक चैतन्य रूपी ब्रह्म में पर्यवसित होते हैं। अतः तत् और त्वं, दोनों शब्द ब्रह्म चैतन्य रूपी एकाधिकरण में स्थित हुए, क्योंकि दोनों शब्दों का लक्ष्यार्थ है एक मात्र ब्रह्म चैतन्य है।

संज्ञा-विशेषण भाव संबंध

यह वह है और वह यह है– ऐसे संबंध आने पर एक दूसरे को संज्ञा–विशेषण भाव संबंध कहा जाता है। अर्थात एक ओर "यह" "वह" का विशेषण है और "यह" "वह" की संज्ञा है। क्योंकि उक्त दोनों शब्दों का तात्पर्य–अर्थ अभिन्न रूप में एक वस्तु को ही समझाता है। "वही यह

योगानन्द है'' यह कहने से ''वह'' कौन है? इसके उत्तर में बताया जायेगा कि वह पूर्वपरिचित योगानन्द है और ''यह'' शब्द का अर्थ इस समय के योगानन्द के बारे में बताता है। यही वही योगानन्द है, अतः ''वही'' और यही, उन दोनों शब्दों की लक्ष्यवस्तु के रूप में आए अभिन्न योगानन्द को ही समझाता है, क्योंकि योगानन्द को लक्ष्य कर के ''वही'' और यही शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः ''वही'' और ''यही'' दोनों शब्दों के बीच परस्पर संज्ञा–विशेषण भाव संबंध विद्यमान है। ठीक वैसे ही तत्त्वमसि वाक्य में तत् शब्द का अर्थ है अप्रत्यक्ष चैतन्य और त्वं शब्द का अर्थ है प्रत्यक्ष चैतन्य। अतः इन दोनों शब्दों के बीच परस्पर के संज्ञा–विशेषण के रूप में संबंध है, क्योंकि दोनों शब्दों का तात्पर्य–अर्थ एक और अभिन्न रूपी ब्रह्म चैतन्य को ही समझाता है।

लक्ष्य लक्षण-संबंध का निरूपण

प्रत्यकत्व और सद्वितीयत्व तथा परोक्षत्व और पूर्णत्व एक दूसरे के विरोधी हैं अर्थात प्रत्यकत्व से परोक्षत्व का और सद्वितीयत्व से पूर्णत्व का विरोध रहता है। क्योंकि प्रत्यकत्व और सद्वितीयत्व, ये दो गुण जीव के प्रति संभव है और ब्रह्म के प्रति असंभव है। फिर परोक्षत्व और पूर्णत्व, ये दो गुण जीव के प्रति असंभव है। अर्थात प्रत्यकत्व और सद्वितीयत्व का भाव केवल जीव में होता है, ब्रह्म में नहीं होता। क्योंकि जीव अनेक और विभिन्न प्रकार के हैं, परन्तु ब्रह्म अनेक अथवा विभिन्न प्रकार के नहीं हैं। फिर परोक्षत्व और पूर्णत्व केवल ब्रह्म में होता है, जीव में नहीं होता। क्योंकि ब्रह्म ही पूर्ण है और जीव पूर्ण नहीं है, अपितु असंपूर्ण है। इस तरह के विरोध की मीमांसा करना हो, तो लक्ष्य–लक्षण संबंध रूपी लक्षणा करनी होगी। अर्थात शब्दों के अर्थों में विरोध होने पर भी केवल लक्ष्य वस्तु क्या है, उसे देखना होगा। क्योंकि लक्ष्य वस्तु की ही आवश्यकता है। शब्दों के अर्थों में परस्पर विरोध रहने पर भी लक्ष्यार्थ में विरोध न होने के कारण एक मात्र वस्तु के प्रति लक्ष्य रहता है। अतः जहां लक्ष्य वस्तु एक और शब्दों के अर्थों में विरोध है, वहां के संबंधों को

लक्ष्य संबंध कहा जाता है। अर्थात अविरोध वाले भाग का नाम लक्ष्य है और विरोध वाले भाग का नाम लक्षणा। लक्ष्य–लक्षणा संबंध में विरोध वाले अर्थांश का त्याग और अविरोध वाले अर्थांश को ग्रहण करना होगा। ''तत्त्वमसि''–इस वाक्य में तत् शब्द का अर्थ अप्रत्यक्ष चैतन्य और त्वं शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष चैतन्य समझना होगा। इस अप्रत्यक्षत्व और प्रत्यक्षत्व के भाव परस्पर विरोधी होने के कारण ये त्याग करने के योग्य हैं। इसे त्याग करने से केवल अविरोध चैतन्य ही अवशिष्ट रहा और वह अवशिष्ट चैतन्यांश ग्रहण करने के योग्य है। अतः अवशिष्ट चैतन्य को लक्ष्य और तत् तथा त्वं शब्दों को लक्षणा कहा गया है।

जहती लक्षणा

प्रमाणान्तर में बाधा उत्पन्न होने के कारण मुख्य अर्थ परिगृहीत न होने पर मुख्य अर्थ से भिन्न दूसरे अर्थ के ग्रहण की प्रवृत्ति को लक्षणा कहा जाता है। जहती, अजहती और जहत्याजहती के भेद से लक्षणा तीन प्रकार की है। जहती शब्द का अर्थ है त्याग। शब्द का सही अर्थ छोड़ कर अन्य अर्थ स्वीकार करना अर्थात समस्त वाच्यार्थ छोड़ कर उससे जुड़े अन्य विषय में जो वृत्ति अर्थात लक्ष्य अर्थ का ग्रहण करना है, उसका नाम जहती लक्षणा है। ''चौबे जी गंगा में निवास करते हैं''–ऐसा कहने से गंगा के पानी में निवास करना असंभव है, अतः उसे न समझ कर समझा जायेगा कि गंगा के तट पर निवास करते हैं। अर्थात चौबे जी गंगा के तट पर निवास करते हैं। इस प्रकार की लक्षणा देनी होगी। इस उदाहरण का नाम जहती लक्षणा है। ''तत्त्वमसि'', इस वाक्य में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, इन दोनों शब्दों का अर्थ केवल चैतन्यांश है। अतः चैतन्यांश में कोई विरोध नहीं है। केवल प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का प्रतिपादन करने वाले अंश में विरोध है। अतः स्व–अर्थ छोड़ कर अन्य अर्थ में लक्षणा स्वीकार करनी होगी। अतः तत्त्वमसि वाक्य में जहती लक्षणा संगत नहीं होती।

यदि कहो कि गंगा शब्द का अपना अर्थ छोड़ कर जिस प्रकार

लक्षणा के द्वारा "तट" अर्थ को ग्रहण किया गया है, ठीक वैसे ही लक्षणा के द्वारा तत् शब्द का अपना अर्थ छोड़कर त्वं शब्द के अर्थ में अथवा त्वं शब्द का अर्थ छोड़कर तत् शब्द के अर्थ में लक्षित हो। नहीं, वैसा नहीं हो सकेगा। क्योंकि जैसा कि पहले ही बताया गया है "चौबे जी गंगा में निवास करते हैं। इस वाक्य में "तट" शब्द का उल्लेख नहीं है। उसके न रहने के कारण उसके अर्थ की अपेक्षा करके जहती लक्षणा संगत हुई है। परन्तु तत्त्वमसि वाक्य में तत् और त्वं, इन दोनों शब्दों का उल्लेख रहने के कारण दोनों शब्दों का अर्थ स्वयं ही प्रसिद्ध हुआ है। अतः उसमें लक्षणा के द्वारा दूसरे शब्द के दूसरे अर्थ के ज्ञान की अपेक्षा रखना संभव नहीं होता। अतः तत्त्वमसि वाक्य में जहती लक्षणा असंगत हुई।

अजहती लक्षणा

अजहती का अर्थ है अत्याग (त्याग न करना) अर्थात सही अर्थ को न छोड़ कर अन्य विषयक जिस वृत्ति को ग्रहण करना होता है, उसका नाम अजहती लक्षणा है। "लाल रंग दौड़ रहा है"--यह कहने से लाल रंग का दौड़ना असंभव है। अतः लाल रंग के घोड़े के अर्थ में ग्रहण करना होगा। अर्थात यहां पर लाल रंग का घोड़ा दौड़ रहा है समझना होगा। "लाल रंग दौड़ रहा है" इस वाक्य में लाली के दौड़ने के कार्य में विरोध होने के कारण लाली शब्द के अर्थ को न छोड़कर लक्षणा के द्वारा लाल रंग के घोड़े के रूप में अर्थ को स्वीकार करके अर्थ में निहित विरोध को दूर किया गया है। अतः लाल रंग दौड़ रहा है–यह वाक्य अजहती लक्षणासंगत होता है। "तत्त्वमसि" वाक्य में तत् और त्वं शब्दों के अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष चैतन्य की एकता रूपी वाक्यार्थ में अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष का प्रतिपादन करने वाले अंश का विरोध होने के कारण विरोध वाला अंश न छोड़कर तत्संबंधी जिस किसी अर्थ के लक्षित होने पर उसका विरोध दूर करना

---

*१. **प्रमाता**–प्रमाणकर्त्ता अथवा ज्ञाता
२. **प्रमेय**–प्रमाण का विषय अथवा ज्ञेयवस्तु
३. **प्रमिति**–प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान।

संभव नहीं होता। अतः यह प्रमाणित हुआ कि तत्त्वमसि वाक्य में अजहती लक्षणा असंभव है।

यदि कहो कि तत् और त्वं पदार्थ के अपना अपना विरोध वाला अर्थांश त्याग कर अविरोध वाले अर्थांश के साथ तत् और त्वं पदार्थ लक्षित हो। नहीं, वैसा भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि भाग लक्षणा को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार के शब्द के द्वारा अपना अविरोध वाला अर्थांश और अन्य शब्द के द्वारा अविरोध वाला अर्थांश, ये दोनों अर्थ लक्षणा के द्वारा संभव नहीं होता और अन्य शब्द के द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है, लक्षणा के द्वारा पुनः एक बार उसके अन्य रूप पदार्थ का ज्ञान संभव नहीं हो पाता। अतः जहती–अजहती लक्षणा स्वीकार करनी होगी।

जहत्याजहती लक्षणा

जहत्याजहती के अर्थ से त्याग अत्याग (त्याग करने–त्याग न करने) को समझाता है। अर्थात वाच्यार्थ के एक अंश को छोड़ कर जो दूसरे अंश का बोध करता है, उसका नाम जहत्याजहती लक्षणा है। इसका तात्पर्य यह है कि विरोध वाले अंश को त्याग करना और अविरोध वाले अंश को ग्रहण करना। "यह वही योगानन्द है" इस शब्द में शब्द के विरोध वाले अंश में से एक अंश छोड़ने लायक और अविरोध वाले अंश का दूसरा भाग छोड़ने लायक नहीं है। अब "यह वही योगानन्द है" कहने से इस शब्द में छोड़ने लायक विरोध वाला अंश क्या है और न छोड़ने लायक विरोध अंश क्या है, उसे देखना होगा। "यह वह योगानन्द है"–इस शब्द में "यह" और "वह" दोनों शब्द परस्पर विरोधी हैं। क्योंकि "यह" शब्द "वर्तमान काल का द्योतक" और। "वह" शब्द अतीतकाल का द्योतक है। अतः "यह और "वह" दोनों शब्द परस्पर विरोधी है। अब देखना होगा कि वाक्य के दोनों शब्दों के परस्पर विरोधी होने पर अवशिष्ट एक मात्र "योगानन्द" अविरोधी रहा। क्योंकि वर्त्तमान काल का बोध कराने वाला जो "यह" शब्द है, उससे "योगानन्द" शब्द

का कोई विरोध नहीं है। और अतीत काल का बोध कराने वाला जो "वह" शब्द है, उससे भी योगानन्द शब्द का कोई विरोध नहीं है। अतः योगानन्द शब्द निर्विरोधी हुआ, अर्थात यह शब्द का अविरोध वाला अंश है। अतः विरोध वाला अंश छोड़ देने से अवशिष्ट के रूप में मात्र "योगानन्द" शब्द रहा। इस अविरोध वाले अंश को ग्रहण करने की विधि का नाम "जहती–अजहती लक्षणा" है। यह वह योगानन्द है–इस वाक्य में जहती–अजहती लक्षणा संभव हुई। तत्त्वमसि वाक्य में भी यह लक्षणा संगत होगी।

जिस प्रकार "यह योगानन्द ही वही है" इस वाक्य में पूर्वपरिचित और वर्त्तमानपरिचित व्यक्ति के स्वरूप में जो वाच्यार्थ है, उसके एक अंश का विरोध होने के कारण विरोध वाला अंश जिस अतीत काल और वर्त्तमान काल में दृष्टत्व है, उसे छोड़ कर व्यक्ति रूप अंश अविरोध के रूप में लक्ष्यार्थ सिद्ध हुआ अर्थात उस काल और इस काल का धर्म छोड़कर योगानन्द की देहमात्र का बोध कराता है। ठीक वैसे ही तत्त्वमसि वाक्य में भी अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष चैतन्य का जो एकरूप वाच्यार्थ है, उसके एकांश में विरोध होने के कारण विरोध वाला अंश जो प्रत्यक्षत्व और अप्रत्यक्षत्व है, उसे छोड़कर अविरोध वाला अखंड चैतन्यांश मात्र लक्ष्यार्थ सिद्ध होता है।

प्रत्यक्ष आदि जीव धर्मों को त्वं शब्द से त्याग करने और तत् शब्द से सर्वज्ञत्व और परोक्षत्व आदि धर्म समूह को त्याग करने से केवल शुद्ध कूटस्थ परम वस्तु ही अवशिष्ट रहती है। उस अवशिष्ट परम वस्तु का लक्ष्यार्थ ब्रह्म है। अतः तत् और त्वं, इन दोनों शब्दों को अत्यंत एकता के लिये तत्+असि = तत्त्वमसि शब्द सिद्ध हुआ, अर्थात तत् ही तुम और तुम्हीं तत् अर्थात तुम्हीं वह ब्रह्म, यह बात प्रमाणित हुई।

कोई कोई तत्त्वमसि महावाक्य को कर्मधारय समास के स्थान पर षष्ठी तत् पुरुष समास करके वाच्यार्थ का समर्थन करते हैं। उनका कहना है – तस्य + त्वम + असि = तत्त्वमसि है। षष्ठी तत्पुरुष समास

में विभक्ति का लोप होकर तस्य शब्द तत् हुआ है। एक ही शब्द को व्याकरण की कृपा से विभिन्न अर्थों में बदला जा सकता है सही, पर क्या वह सच्चा ज्ञान है?

वाच्यार्थ-विरोध का खंडन

श्रुति में **"एकमेवाद्वितीयम"** अर्थात ब्रह्म एक और अद्वितीय के रूप में उल्लेख किया गया है। अतः वाच्यार्थ की कोई उपयोगिता नहीं। दोनों वाच्यार्थों की अभिन्नता–विवक्षा (व्यक्त करने की इच्छा) होने से किस प्रकार विरोध प्रतीत होता है, उस पर विचार किया जाये। तत्त्वमसि, इस वाक्य में तत् पदार्थ परोक्षत्व आदि से युक्त चैतन्य को समझाता है और त्वं पदार्थ अपरोक्षत्व आदि से युक्त चैतन्य को दर्शाता है। यदि तत् और त्वः, ये दोनों पदार्थ परस्पर के भेद के व्यवर्तक होकर संज्ञा–विशेषण–भाव, संबंध संज्ञा अथवा अन्य वाक्यार्थ होते हैं, तो प्रत्यक्ष आदि के साथ विरोध होता है। अतः वाच्यार्थ संगत नहीं होता। सर्वेश्वरत्व, स्वतंत्रत्व, सर्वज्ञत्व आदि गुणों के द्वारा सर्वोत्कृष्ट, सत्यकाम, सत्य संकल्प परमेश्वर तत् शब्द का वाच्यार्थ और अल्पज्ञ, दुःख में जीवन–यात्रा का निर्वाह करने वाला, संसाराश्रय से जुड़ा सही अर्थ में संसार करने वाला जीव त्वं शब्द का वाच्यार्थ है। ईश्वर और जीव, इन दो विरोधी पदार्थों का एकत्व भी किस प्रकार संभव होगा? क्योंकि, प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा दोनों की इस विरोध की उपलब्धि होती है। विरोध धर्मों से जुड़े होने के कारण आग और बर्फ की तरह ईश्वर और जीव एक दूसरे के विलक्षण स्वभाव वाले हैं। शब्दार्थ के द्वारा भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के साथ विरोध होता है। यदि उन दोनों का ऐक्य परित्यक्त होता है, तो श्रुति और स्मृति के वाक्य से अत्यंत विरोध होता है। फिर यदि तत्त्वमसि वाक्यार्थ, विशिष्ट अथवा

*** प्रत्यभिज्ञा : आतीत काल के अनुभव के संस्कार के साथ वर्तमान अनुभव को प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। अर्थात कल जिस घट को देखा था, यह तो वही घट है। बाद में जो बताया गया वह प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष है और पहले जो बताया गया वह प्रत्यभिज्ञा संस्कार है।**

संबंध विशेष होता है, तब भी यथार्थ वाक्यार्थ नहीं होता। क्योंकि यह श्रुति द्वारा स्वीकृत नहीं। अखंड और एकरसत्व—अखंड और एक रूप वाली वस्तु ही श्रुति सम्मत वाक्यार्थ है। श्रुति में पुनः पुनः स्थूल और सूक्ष्म प्रपंच का ब्रह्मस्वरूपत्व दिखकर सुषुप्ति के समय ब्रह्म के साथ आत्मा का अभिन्नत्व उत्पन्न करके ब्रह्म का एकत्व प्रदर्शित करने के उद्देश्य से यह बात बताकर कि दृश्यमान ये सभी पदार्थ आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं—ब्रह्म का अद्वितीयत्व सिद्ध करने के लिए ब्रह्म और आत्मा का अभिन्नत्व प्रतिपादित किया गया है। जगत अथवा जीव के विद्यमान रहने से ब्रह्म का अद्वितीयत्व किस प्रकार सिद्ध होगा? अतः ऐक्य में कभी भी विरोध नहीं। अतः तत् और त्वं शब्दों का वाच्यार्थ स्वीकार करना संगत नहीं। जहां पर वाच्यार्थ उत्पन्न होता है, वहां पर लक्षण को स्वीकार करना होगा।

अतः वाच्यार्थ को सिद्ध करने के लिए लक्षणा को स्वीकार करने से तत्त्वमसि के स्थान पर तत् शब्द का अर्थ परोक्षत्व वाला चैतन्य और त्वं शब्द का अर्थ अपरोक्षत्व वाला चैतन्य होगा। परंतु परोक्षत्व और आपरोक्षत्व आदि विरोधाभाव का त्याग करने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की हानि नहीं होती अथवा अविरोध वाले चैतन्यांश को ग्रहण करने से श्रुति का भी विरोध नहीं होता।

अन्यान्य आपत्तियों का खंडन

तथापि आपत्ति हो सकती है कि सर्वत्र एक ही शब्द में लक्षणा होती है; परंतु तत्त्वमसि वाक्य में तत् और त्वं, दोनों शब्दों में लक्षणा का प्रयोग करने की क्या आवश्यकता है? केवल तत् शब्द में लक्षणा का तत् शब्द के प्रतिपाद्य अर्थ का विरोध वाला अंश का त्याग करके उसके अविरोध भाव से जुड़े तत् शब्द के अर्थ को लक्षित करना होगा। अथवा त्वं शब्द में लक्षणा का त्वं शब्द के प्रतिपाद्य अर्थ के विरोध वाला अंश त्याग कर के उसके अविरोध वाले भाग से जुड़े त्वं शब्द के प्रतिपाद्य अर्थ को लक्षणा के द्वारा समझाना पड़ेगा। इस प्रकार जब एक ही शब्द में लक्षणा

करने से काम चल जायेगा, तब दो शब्दों में लक्षणा करने की क्या आवश्यकता है? विशेषतया एक शब्द में ही लक्षणा दिखाई देती है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि एक ही शब्द अपने अंश और अन्य पदार्थ के अंश को किस प्रकार लक्षित कर सकेगा? एक शब्द से पदार्थ का ज्ञान होने से लक्षणा के बिना भी अर्थ की प्रतीति होती है। अतः लक्षणा की भी आवश्यकता नहीं रहती। अतः दोनों शब्दों के अंश को त्याग कर एक मात्र चैतन्य को ही समझाने के लिए दोनों शब्दों में लक्षणा को स्वीकार किया गया। "वही यह योगानन्द है" यह वाक्य अथवा वाक्यार्थ योगानन्द के एकरूपत्व और स्वकीय वाक्यार्थ का अप्रकाशक देश–काल आदि विशेषता रूपी विरोध वाला अंश त्याग कर जिस प्रकार लक्षणा के द्वारा अविरोधी योगानन्द नामक व्यक्ति मात्र को ही लक्षित करता है, ठीक वैसे ही तत्त्वमसि के मामले में वाक्य अथवा वाक्यार्थ परोक्षत्व वाला चैतन्य और अपरोक्षत्व वाला चैतन्य, इन दोनों का उपस्थित विरोध वाला भाग एकत्वरूपी वाक्यार्थ और परोक्षत्व, अपरोक्षत्व, सर्वज्ञत्व, अल्पज्ञत्व, बुद्धि से स्थूल भूतों तक अविद्या कल्पित अनात्म वस्तु को त्याग करके अविरोध, शुद्ध चैतन्यरूपी केवल सत्यस्वरूप, निर्विकल्प निरंजन ब्रह्म को लक्षणा के द्वारा पूरी तरह लक्षित करता है। फिर जिस प्रकार "वही यह योगानन्द है" – इस वाक्य में वही शब्द का अर्थ पूर्व परिचित योगानन्द और "यह" शब्द का अर्थ वर्तमान में मिलने वाले योगानन्द से है। उसमें पूर्वकाल और वर्तमान काल के नाम से होने वाले विरोध वाला जो अंश है उसका त्याग करके जिस प्रकार लक्षणा के द्वारा केवल योगानन्द को समझाता है, ठीक वैसे ही तत् शब्द का अर्थ माया उपाधि वाला ईश्वर और त्वं शब्द का अर्थ अविद्या–उपाधि वाला जीव–इन दोनों के विरोध वाला अंश जो माया और अविद्या है, उसका त्याग करने से स्पष्ट, नित्य, ज्ञानानन्दस्वरूप परंब्रह्म ही लक्षित होते हैं। अतः तत् और त्वं–इन दोनों शब्दों पर अध्यारोपित उपाधियों का अपवाद न्याय के बल पर खंडन करके समानाधिकरण, संज्ञा–विशेषण भाव और लक्ष्य–लक्षण, इस संबंधत्रय के द्वारा तत्त्वमसि वाक्य का ऐक्य दिखाया

गया है।

असि शब्द की सार्थकता

अतः तत् शब्द का अर्थ परमात्मा और त्वं शब्द का अर्थ जीवात्मा है। इस तत् और त्वं शब्दों में जो ऐक्य है अर्थात् परमात्मा के साथ जीवात्मा का जो ऐक्य है, वही "असि" शब्द के द्वारा साधित होता है। सर्वज्ञ परमात्मा के साथ अल्पज्ञ जीव का ऐक्य किस प्रकार संभव होता है। इसीलिए बताया गया है कि तत् और त्वं पदार्थों रूपी ईश्वर और जीव का परोक्षत्व, सर्वज्ञत्व आदि और अपरोक्षत्व, अल्पज्ञत्व आदि विरोध वाले अंशों का त्याग करके त्वं शब्द का शोधन कर लक्षणा के द्वारा लक्षित ईश्वर और जीव के अविरोध वाला रूप मात्र चित् पदार्थ को ग्रहण करने से ब्रह्म चैतन्य और जीव चैतन्य के बीच एकमात्र चैतन्य ही शेष रहता है। अतः चैतन्य के लिए ऐक्य संभव होता है। परंतु ऐक्य शब्द से यह विवेचना नहीं करनी चाहिये कि दोनों वस्तु के परस्पर के संयोग से ऐक्य करना। तब और क्या हो सकता है? ऐक्य अर्थात एकता का भाव यह एक है–इस रूप में ज्ञान होना। जो वस्तु पहले थी, इस समय जो वस्तु है–यही वही वस्तु है। वह वस्तु कोई है और यह वस्तु कोई दूसरी है–ऐसा भाव नहीं। केवल वही वस्तु ही भ्रम के कारण अन्य वस्तु के रूप में कल्पित होती है। अतः ऐसी स्थिति में दोनों वस्तुएं स्वीकार्य नहीं। ऐसी स्थिति में ऐक्य का ज्ञान दोनों वस्तुओं की एकता नहीं समझाती है, केवल स्मरण करा देता है कि जो तुम पहले थे, वही तुम्हीं ने ही यह भाव धारण किया है, अथवा वही तुम बने है। अतः "असि" शब्द के द्वारा तत् और त्वं, इन दोनों शब्दों की एकरूपता साधित हुई है। इससे दोनों वस्तुओं का मिलन नहीं दिखाया गया।

महावाक्य विचार का फल-निरूपण

तत्त्वमसि वाक्य के विचार से जिसमें "वही ब्रह्म ही मैं हूं" ऐसे ऐक्य ज्ञान की प्रतीति अथवा दृढ़ विश्वास उत्पन्न हुआ है, वे संसार के समस्त दुःखों से पार हो चुके हैं। अतः श्रृति में बताया गया है कि **"शोकं तरति चात्मवित"** अर्थात आत्मज्ञानी व्यक्तियों में किसी प्रकार का शोक नहीं रहता। अतः तत्त्व मसि वाक्य के प्रत्यक्ष ज्ञान से साधुओं का सच्चिदानन्द,

अखंड, एक रसस्वरूप मोक्ष की अवस्था प्राप्त होती है। जब तक तत् और त्वं शब्दों के अर्थ पर पूर्णतया विचार नहीं किया जाता, तब तक मनुष्यों का मरण और संसारागमन रूपी बंधन निरंतर चलता रहता है। अतः मुक्ति के इच्छुक पुरुषों के लिए संसार के बंधन से मुक्त होने के लिए तत्त्वमसि वाक्य के अर्थ पर नितांत रूप से विचार करना चाहिये। तत्त्वमसि महावाक्य से उस एक और परिशुद्ध आत्मा को ही प्रमाणित किया गया है। तत् और त्वं शब्दों की लक्षणा के द्वारा लक्षित समस्त उपधियों से रहित, सच्चिदानन्द स्वरूप, अद्वितीय, विशेष शून्य, आभास–रहित, तत् शब्द अथवा इदं शब्द के अवाच्य, निर्देश के अयोग्य, आदि और विनाश रहित, व्यापक, शांत, कूटस्थ, तर्क के अविषय, ज्ञान के अगोचर, निर्गुण ब्रह्म ही शेष रहते हैं। अतः जीव और ईश्वर की एकता के ज्ञान के द्वारा उपाधियों के लय प्राप्त होने से दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं रहता। जीव और ईश्वर में उपाधियों की विशेषता, उन–उन धर्मों की भागीदारिता, विलक्षणत्व, इस सब ज्ञान के द्वारा कल्पित हैं। अतः स्वप्न में देखी गई बातों की तरह वह सब वाधित होते हैं, इसलिए जाग्रत के समय मिथ्या होते हैं। दृष्ट–दर्शन आदि भ्रांतियों के कारण विकल्पों के द्वारा कहीं पर भी स्वप्न और जागरण का विशेष नहीं दिखाई देता। अतः स्वप्न की तरह जागरण भी मिथ्या है। स्वप्न और जागरण, ये दोनों अवस्था अविद्या के कार्य होने के कारण, दोनों प्रायः बराबर हैं। उसी प्रकार स्वप्न और जागरण में दृष्टा, दर्शन और दृश्य आदि की कल्पना भी मिथ्या है। सब लोग सुषुप्ति के समय स्वप्न और जागरण का अभाव अनुभव करते हैं। दोनों के बीच कोई भेद नहीं है। अतः दोनों अवस्थाएं मिथ्या हैं। अतः सदैव–अद्वितीय, विकल्प–रहित उपाधि शून्य, शुद्ध, सदैव आनन्द मूर्ति, निश्चेष्ट, स्वप्रतिष्ठ और एक मात्र ब्रह्म ही हैं–उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है अथवा सुख–दुःख आदि गुणों की प्रतीति नहीं होती। वाक्य अथवा मन का व्यापार जिसमें नहीं है वह केवल, अत्यंत शांत, विभु और सब से पहले विद्यमान, इस तरह आनन्द स्वरूपता ही आभासमान होती है। इस जरा–मरण से रहित, सत, चित और आनन्द स्वरूप परम वस्तु ही तत्त्वमसि वाक्य का यथार्थ लक्ष्य है।

अतः त्वं अर्थात तुम, शरीर, प्राण, इन्द्रियवर्ग, मन, बुद्धि अथवा अहंकार नहीं हो, अथवा यह देह, प्राण, इंद्रियों आदि की समष्टि भी "तुम" नहीं है—इन सभी वस्तुओं का विमल प्रकाश साक्षी स्वरूप वही ब्रह्म ही तुम हो। कर्म के सूत्र से यह जो देह उत्पन्न होती है, वह फिर कर्म में बढ़ती है और नष्ट होती है। जो सुषुप्ति के समय तक स्वप्रकाश समस्त वस्तुओं रूपी "मैं" इस एक भाव में नित्य आभासमान रहती है, बुद्धि और समस्त विकारों से अविकारी ज्ञाता केवल ज्ञान स्वरूप वह ब्रह्म तुम्हीं हो। जो नित्य ज्ञान रूपी आत्मा में कल्पित आकाश आदि समूचे जगत का अस्तित्व प्रदान करती है, और अपने तेज के द्वारा प्रकाश का विस्तार करता है, केवल ज्ञानस्वरूप वह ब्रह्म ही तुम हो। भ्रांति के कारण तुम में यह शरीर, देह और आत्मा का संयोग है। देह धर्म में स्थूलता, कृशता आदि आरोपित हुई है, वस्तुतः यह सब कुछ भी नहीं है। तुम जन्म–रहित, परिपूर्ण स्वभाव वाले वही ब्रह्म हो, अपने भ्रांत ज्ञान के द्वारा जो जो वस्तुएं दिखाई देती है, उन समस्त वस्तुओं का स्वरूप पूरी तरह अवगत होने से जान सकोगे कि वह सब तुम्हारे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अतः तुम अभय, नित्य, केवल सुख स्वरूप, पूर्ण, निर्व्यापार, शांत, सदैव द्वैत–रहित ब्रह्म के रूप में ही स्थित हो।

तुम ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय से पृथक, ज्ञाता से अभिन्न, अखंड ज्ञान–स्वरूप, ज्ञेयत्व और अज्ञेयत्व से रहित शुद्ध, बुद्ध, तुम्हीं तत्त्वमसि अर्थात वह ब्रह्म" हो। अंतःकरण के संबंध में ज्ञानवत्व आदि विविध विकल्पों के द्वारा अस्पृष्ट, जो केवल ज्ञानस्वरूप, सत स्वभाव, समान रूप, अद्वितीय, शुद्ध, बुद्ध, तुम ही तत्त्वमसि अर्थात वह ब्रह्म हो। जो समस्त पदार्थों में विद्यमान, सर्वात्मक, समस्त पदार्थों से पृथक, समस्त निषेधों का अवधिभूत, सत्यस्वरूप, व्यापक, नित्य, अद्वितीय, शुद्ध, बुद्ध तुम ही तत्त्वमसि वह ब्रह्म हो। नित्य सुख स्वरूप, अखंड, एक रूप, नीरस, निष्क्रिय, विकार शून्य, आत्मा से अभिन्न, अत्यंत दुरबगाह, अद्वितीय, शुद्ध, बुद्ध तुम ही तत्त्वमसि वह ब्रह्म हो। जिस में समस्त विशेषताओं का अस्त हुआ है, जो आकाश के समान बाहर और भीतर सब जगह परिपूर्ण,

आनन्द और ज्ञानस्वरूप, जो स्वच्छ अद्वितीय, शुद्ध, बुद्ध स्वरूप, वही तुम–तत्त्वमसि–तुम्हीं वही ब्रह्म हो। "मैं" ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ और नहीं हूं। मैं सत्व आदि गुण–विहीन, निर्विकल्प, केवल सुखस्वरूप–इस प्रकार से अखंड चित्त–वृत्ति के द्वारा तुम अखंड ब्रह्म में स्थित रहो और आत्मा के साथ अभिन्न और परंब्रह्म में सदैव रमे रहो।

महावाक्य को ग्रहण करने वाले साधक की अवस्था

मैं ही "तत्त्वमसि", इस महावाक्य का प्रतिपाद्य ब्रह्म हूं। अध्यारोप और अपवाद न्याय का अवलंबन लेने वाले सदगुरु के द्वारा तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ ज्ञात होने पर उसी क्षण विमल अंतःकरण वाले उन पुरुषों के नित्य सुख स्वरूप, अद्वितीय, उपमा रहित, निर्मल, उत्कृष्ट, एक वस्तु वह ब्रह्म ही मैं, इस प्रकार की परम अखंडाकार चित्त–वृत्ति समुदित होती है। वह चैतन्य के स्फुरण से युक्त अखंडाकार चित्त वृत्ति आत्मा से अभिन्न परमात्मा को अवलंबन करके विद्यमान रहता है। अखंडाकार चित्त वृत्ति के द्वारा अज्ञान बाधा प्राप्त होने से अंतःकरण में स्थित आवरण रूपी जो ज्ञान, वह भी बाधा प्राप्त होता है, अर्थात दूर होता है। जिस प्रकार धागे के जलने से धागे का कार्य रूपी वस्त्र भी जल जाता है, ठीक वैसे ही अज्ञान के नष्ट होने से अज्ञान के समस्त कार्य विनाश प्राप्त होते हैं। अतः उस अवस्था में वेद आदि शास्त्रों में निर्धारित विधि निषेध से और बंधन संभव नहीं हो पाता। जीव की जब तक प्रमाण के द्वारा देह के आत्मभ्रम की निवृत्ति नहीं हुई, तब तक वर्ण, धर्म, आश्रम और आचार आदि कर्म शास्त्रों का प्रामाण्य प्रतीत होता हैं। जिसमें "मैं देह नहीं हूं" इस ज्ञान का उदय हो चुका है, उसका किसी भी कर्म पर अधिकार नहीं है। उसके पास समस्त शास्त्र स्थिर और निश्चेष्ट हो जाते हैं। उसके लिए कोई भी भेदाभेद नहीं रहता। उसके पाप पुण्य नष्ट हो जाते हैं। धर्म और अधर्म क्षयप्राप्त हो जाता है; संसार और वृत्ति अर्थात मन तथा इंद्रियों आदि के धर्म नष्ट हो जाते हैं। उस समय वह केवल शब्द के पर और गुणत्रय से रहित होकर विचरण करता है। उस समय वह साधारण मनुष्यों से बहुत ऊंचाई पर रहता है। वह जिस स्थान पर रहता है, वहां

पर रोग, शोक, भय, जरा, मृत्यु, दुःख, गरीबी, ये सब कुछ नहीं रहते। पृथ्वी में रहने पर भी वह ब्रह्मलोक का निवासी है, रुग्ण होने पर भी बलवान और स्वस्थ है। गरीबी में रहने पर भी महा ऐश्वर्यशाली, भीखारी होने पर भी राज चक्रवर्ती है। वही साधु पुरुष है और उसका जीवन धन्य है। स्वर्ग, मर्त्य और पाताल में उससे अधिक पूजनीय कोई और नहीं है। अज्ञानी मनुष्यगण उनकी महानता सही अर्थ में अनुभव करें या न कर सकें, वह स्वर्ग के देवताओं द्वारा सदैव पूजित होता है। पूजित होने पर भी वह महात्मा प्रीत नहीं होता। निन्दित होने पर भी क्रोधित नहीं होता। मृत्यु आसन्न होने पर भी वह विचलित नहीं होता और लंबे जीवन पर खुशी जाहिर नहीं करता। वह अपमानित होने पर भी रूखे वाक्य का प्रयोग नहीं करता अथवा अधिक मात्रा में प्रशंसित होने पर भी प्रिय वाक्य नहीं बोलता। जो आहत होकर भी प्रतिघात नही करता और घातक का जिसमें अंमगल होगा, वैसी इच्छा नहीं करता–ब्रह्मा आदि देवतागण भी ऐसे साधु व्यक्ति की दया की आकांक्षा रखते हैं।

विचारेण परिज्ञात स्वभावस्योदितात्मनः
अनुकंप्या भवन्तीह ब्रह्मा-विष्विन्द्र शंकर

ॐ हरि ॐ। ॐ ब्रह्मार्पणमस्तु